श्रावक ला० रणजीतसिंह कृत

वृहदालोचना

पूज्य श्री अमरसिंह जैन पुरातन-साहित्य माला पु०

: सुश्रावक लाला रणजीत सिंह कृत

बृहदालोचना-ज्ञान-गुटका

[गद्य-पद्य, टिप्पणि, मूलार्थ, पाठान्तर एवं परिशिष्ट संयुत]

अनुवादक:

मुनि सुमन कुमार
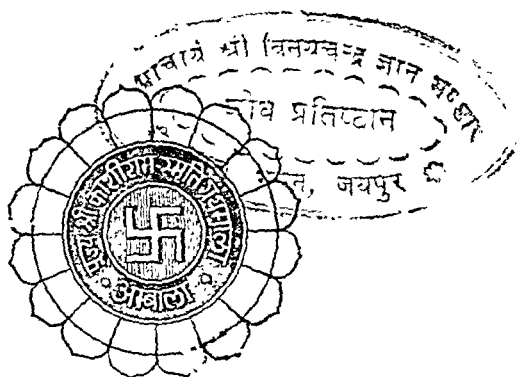
प्रकाशक :

पूज्य श्री काशीराम-स्मृति ग्रन्थमाला

जैन बाजार, अम्बाला शहर

(पंजाब)

प्रकाशक की बात

वृहदालोचना नामवाली लघु पुस्तिका का प्रकाशन पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत करते प्रसन्नता होती है। इसे जैन जगत में अब तक अधिक आदर प्राप्त रहा है, क्योंकि यह पाठ मन को कुकृत्य से दूर करने तथा पश्चाताप से आत्म-विशुद्धि के लिए सहायक रहा है। पर्व दिनों में तो इसका सर्वाधिक महत्व है ही। अतएव श्रद्धेय श्री सुमन मुनि जी ने इसे इस वार संशोधित मूल पाठ के साथ अर्थ एवं टिप्पणी युक्त संपादन किया है जिससे आलोचना पाठ करने वालोंको अति सुगमता रहेगी, अर्थ आदि ज्ञान को हृदयंगम करने में भी।

साथ ही अलवर श्री संघ के हम आभारी हैं जिसने पुस्तक के कागज आदि का व्यय भार उठाकर संस्था को सहयोग दिया है।

—*मुनीलाल जैन*

प्रश्न और उत्तर :

भंते ! आलोचना से जीव क्या फल प्राप्त करता है ?

गौतम ! आलोचना से माया-निदान और मिथ्या दर्शन शल्य, मोक्ष-मार्ग के विघ्न एवं अनन्त संसार के बन्धनों को नष्ट करता है, ऋजु भाव (सरलता) को प्राप्त करता है। ऋजु भाव के प्रतिपन्न होने पर जीव अमायी (कपट रहित) हो जाता है तथा स्त्री वेद, नपुंसकवेद का बन्धन नहीं करता। यदि पहले बन्धन कर लिया हो तो उसकी निर्जरा (क्षय) कर देता है।

(उत्तराध्ययन, सूत्र २६)

अपनी बात

धर्म समाज में आलोचना पाठ कई लेखकों एवं भाषाओं तथा गद्य-पद्य विधाओं में प्रचलित है, जैसा कि प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि। किन्तु इनमें 'वृहदालोयणा' नामक एक रचना स्थानकवासी समाज में अत्यधिक लोकप्रिय होगई है और उसका कारण इसकी विशेषता है।

कृति परिचय : प्रस्तुत रचना के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक पद्य-गद्य रूप दूसरा केवल पद्य रूप ही। पहले रूप का नाम 'वृहदालोयणा' है। दूसरे का नाम 'ज्ञान गुटका'। वृहदालोयणा के भी दो विभाग हैं एक पद्य दूसरा गद्य-पद्य। (१) पद्य विभाग में अठ्यासी पद हैं उनमें एक सोरठा छन्द है शेष दोहे हैं। विषय दृष्टि से तीन विभाग हैं तथा पद संख्या पृथक् २ है किन्तु इसमें विषयों के नाम शीर्षक नहीं हैं। (२) गद्य विभाग पद्यमय मंगलाचरण से आरम्भ किया गया है यह पद संख्या नो है। कहीं २ बीच में भी प्रासंगिक पद हैं जो दोहे, सवैया, गाथा एवं हरि-गीतिका छन्द में हैं अन्त मे ३८ दोहे और अन्तिम दो दोहे छन्द महात्म्य अन्तिम-मंगल के हैं।

गद्य विभाग में अठारह पाप की विस्तारपूर्वक तथा शेष अतिचार आदि दोषों की संक्षेप में आलोचना है। पद्य विभाग में मंगलाचरण, आत्म-निंदा, मनोरथ, जीव सिद्ध और कर्म, पुण्य-पाप आदि विभिन्न विषयों के माध्यम से आत्म-आलोचना की गई है, इसी कारण इसका नाम वृहदा-लोयणा रखा गया प्रतीत होता है।

ज्ञान-गुटका : यह मात्र पद्य कृति है। इसमें कुल ९४ पद हैं और तीन प्रशस्ति के पद हैं। इस रचना में दो छन्दों का ही प्रयोग हुआ है दोहा, सोरठा। दो सोरठे हैं शेष दोहे। यह सब पद सात विभागों में बंटे हुए हैं, जो अंग कहे गये हैं। प्रत्येक का विषय पृथक् है जैसे भक्ति-अंग, आत्मनिन्दा-अंग, मनोरथ-अंग, आत्म-परमात्म-अंग, समाधि-अंग, प्रेम-अंग। इनकी पद-संख्या क्रमशः १०+१०+५+१७+२६+१९ +७ है।

'ज्ञान-गुटका संग्रह' की हस्त-लिखित प्रति अब तक प्राप्त नहीं हो

(गांधी) है जो जैन श्रावक-गृहस्थ थे। उनको यह प्रेरणा संभवतः जैन मुनि श्री भज्जूलाज जी महाराज से मिली है। क्योंकि इनके द्वारा अनेक जैन-अजैन ग्रन्थ पं० रामचन्द्र शर्मा (जो ज्ञान-गुटका के संशोधक भी हैं) रामसहाय शर्मा, पं० भूरालाल आदि द्वारा लिपि करवाये गये हैं। इनका लिपि काल वि० स० १९४० तक है। ये ग्रन्थ आज भी वर्द्धमान स्था० जैन श्रावक संघ अलवर के भंडार में सुरक्षित हैं। इस कार्य की प्रेरणा स्वामी जी महाराज से मिली। श्रद्धेय श्री जी उनकी दुकान के ऊपर चोवारों में कितने ही वर्षो तक स्थविरवास रहे हैं, साथ ही स्वामी जी स्वयं भी कवि एवं कुशल लिपि कर्त्ता थे। इनके दो ग्रन्थ "शांति प्रकाश" और बुद्धिप्रकाश उपलब्ध हैं जिनमें 'शांति प्रकाश' इनकी योग्यता एवं साधक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसी ख्याति प्राप्त ग्रन्थ की प्रशस्ति में रणजीत सिंह जी को अपना शिक्षा-गुरू स्वीकार किया है—

चार वर्ण गुरू रतन जी, तास भेद चौबीस।
तामे भेद सु तैरवे, करी ज्ञान बकसीस॥
ज्ञान पाय हुलसी मती शुक्ला छठ मधुमास।
संवत् रस ६ अग्नी ३ क भू १ रच्यो शांति प्रकाश॥

ग्रन्थ कर्ता : उक्त आत्म-आलोचना ग्रन्थ के कर्ता लाला रणजीतसिंह जी हैं। ये जाति से संभवतः ओसवाल जैन थे। वृद्ध कथन है कि ये दिल्ली के थे किन्तु इनके सम्बन्ध में अभी कोई प्रमाण परिचय के लिए उपलब्ध नहीं हो सके हैं। पंजाब के अतिरिक्त "लाला" शब्द का प्रयोग आगरा, अलवर और दिल्ली में होता है। अतः यह तो निश्चित सा ही है कि ये इसी प्रदेश के थे। अलवर इनका आगमन श्री भज्जूलाल जी महाराज के कारण होता ही रहता था। इनका जन्म और मृत्यु काल भी ज्ञात नहीं है। श्री भज्जूलाल जी महाराज का समय वि० स० १९०६ से १९४० तक का है और इस समय ला० हीरालाल गुजरमल अलवर वाले एवं ला० रणजीत सिंह जी विद्यमान थे ऐसा प्रतीत होता है। कुछ भी हो वे एक अच्छे आगमवेत्ता धर्मनिष्ठ एवं श्रावक गृहस्थ थे।

प्रस्तुत कृति : उनकी अपनी मौलिक रचना है या संग्रह कृति है, यह प्रश्न जटिल है। इसका उत्तर निर्विवाद देना शक्य नहीं किन्तु फिर भी अन्तः साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि रचना का सम्पूर्ण भाग

ज्ञान-गुटका

भक्त्यात्म निंदा मनोरथरु, आत्म-परमातम अंग।
समाध्युपदेश पुनि प्रेम य, सप्त अंग ज्ञानंग॥

—लाला रणजीत सिंह

: मंगलाचरण :

छन्द : दोहा

सिद्ध श्री परमात्मा, अरिगंजन अरिहंत ।
इष्टदेव वन्दु सदा, भय-भंजन भगवंत ॥१॥
अरिहंत सिद्ध सिमरूं सदा, आचारज उवझाय ।
साधु सकल के चरण कुँ, वंदूँ शीश नमाय ॥२॥
शासन नायक सिमरिए, भगवंत वीर जिनंद ।
अलिय-विघन दूरे हरे, आये परमानंद ॥३॥
अँगूठे अमृत बसे, लब्धि तणा भण्डार ।
श्री गुरु गौतम सिमरिए, वंछित फल दातार ॥४॥
श्री गुरुदेव प्रसाद से, होत मनोरथ सिद्ध ।
ज्युं घन बरसत वेल तरु, फूल-फलन की वृद्ध ॥५॥
पंच परमेष्ठी देव को, भजन पुर पहिचान ।
कर्म अरी भागे सभी, होवे परम कल्याण ॥६॥
श्री जिन युग पद-कमल में, मुज मन भवर बसाय ।
कब ऊगे वो दिन करु, श्री मुख दरसन पाय ।७॥
प्रणमी पद-पंकज भणी, अरिगंजन अरिहंत ।
कथन करूं अब जीव को, किंचित मुज विरतंत ॥८॥

विषय प्रवेश :

छन्द : दोहा

आरम्भ-विषय-कषाय वश, भमियो काल अनंत ।
लाख चौरासी योनि से, अब तारो भगवंत ॥१॥
देव-गुरु-धर्म-सूत्र में, नव तत्त्वादिक जोय ।
अधिका-ओछा जे कह्या, मिच्छामि दुक्कडं मोय ॥२॥
मोह-अज्ञान-मिथ्यात्व को, भरियो रोग अथाग ।
वैद्यराज गुरु शरण थी, औषध ज्ञान-वैराग ॥३॥
जे मे जीव विराधिया, सेव्या पाप अठार ।
प्रभु तुम्हारी साख से, बार-बार धिक्कार ॥४॥
बुरा-बुरा सब को कहे, बुरा न दीखे कोय ।
जो घट शोधूं आपणा, मोसूं बुरा न कोय ॥५॥
कहवा में आवे नहीं, अवगुण भरया अनंत ।
लिखवा में क्युंकर लिखुं, जानो श्री भगवंत ॥६॥
करुणा निधि कृपा करी, कठिन कर्म मोय छेद ।
मोह अज्ञान मिथ्यात्व का, करिये गंठि भेद ॥७॥
पतित उद्धारण नाथ जी ! अपणो विरुद विचार ।
भूल-चूक सब माहरी, खमिए बारं बार ॥८॥
माफ करो सब माहरा, आज तलक नना दोष ।
दीन दयाल देवो मुझे, श्रद्धा-शील-संतोष ॥९॥
आतम निंदा शुद्ध भणी, गुणवंत वंदन भाव ।
राग-द्वेष पतला करी, सबसे खिमत खिमाव ॥१०॥

मनोरथ :

छूटूं पिछला पाप से, नवां न बाधुं कोय।
श्री गुरुदेव प्रसाद से, सफल मनोरथ होय ॥११॥
परिग्रह-ममता तजि करी, पंच महाव्रत धार।
अंत समय आलोयणा, करूं सँथारो सार ॥१२॥

सम्यक्त्व-स्वरूप :

अरिहँत देव निर्ग्रंथ गुरु, संवर निर्जरा धर्म।
केवलि भाषित शास्त्र, एहि जैन धर्म का मर्म ॥१३॥
आरम्भ-विषय-कषाय तज, शुद्ध समकित व्रत धार।
जिन आज्ञा प्रमाण कर, निश्चिय खेवो पार ॥१४॥

शिक्षा-अभ्यास :

क्षण निकमो रहणो नहीं, करणो आतम काम।
भणनो गुणनो-सीखनो, रमणो ज्ञान आराम ॥१५॥

मंगल-उत्तम-शरण :

अरिहंत-सिद्ध सब साधुजी, जिन-आज्ञा धर्म सार।
मंगलीक उत्तम सदा, निश्चय शरणां चार ॥१६॥

कल्याण-उपाय :

घड़ी-घड़ी पल-पल सदा, प्रभु स्मरण को चाव।
नर भव सफला जो करे, दान-शील-तप-भाव ॥१७॥

---

* "एहि जैन मत धर्म"

मनोरथ :

छूटूं पिछला पाप से, नवां न बाधुं कोय।
श्री गुरुदेव प्रसाद से, सफल मनोरथ होय ।।११।।
परिग्रह-ममता तजि करी, पंच महाव्रत धार।
अंत समय आलोयणा, करूं सँथारो सार ।।१२।।

सम्यक्त्व-स्वरूप :

अरिहँत देव निर्ग्रंथ गुरु, संवर निर्जरा धर्म।
केवलि भाषित शास्त्र, एहि जैन धर्म का मर्म ।।१३।।
आरम्भ-विषय-कषाय तज, शुद्ध समकित व्रत धार।
जिन आज्ञा प्रमाण कर, निश्चिय खेवो पार ।।१४।।

शिक्षा-अभ्यास :

क्षण निकमो रहणो नहीं, करणो आतम काम।
भणनो गुणनो-सीखनो, रमणो ज्ञान आराम ।।१५।।

मंगल-उत्तम-शरण :

अरिहंत-सिद्ध सब साधुजी, जिन-आज्ञा धर्म सार।
मंगलीक उत्तम सदा, निश्चय शरणां चार ।।१६।।

कल्याण-उपाय :

घड़ी-घड़ी पल-पल सदा, प्रभु स्मरण को चाव।
नर भव सफला जो करे, दान-शील-तप-भाव ।।१७।।

---

* "एहि जैन मत धर्म"

जीव-कर्म :

छन्द : दोहा

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोइ सिद्ध होय।
कर्म मैल का अंतरा, बूझे विरला कोय ॥१॥
कर्म पुद्गल रूप है, जीव रूप है ज्ञान।
दो मिलकर वहुरूप हैं, बिछड्यां पद निर्वाण ॥२॥
जीव कर्म भिन्न २ करो, मनुष्य जन्म कु पाय।
ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज-ध्यान जगाय ॥३॥
द्रव्य थकी जीव एक है, क्षेत्र असंख्य प्रमाण।
काल थकी सर्वदा रहै, भावे दर्शन ज्ञान ॥४॥
गर्भित पुद्गल पिंड मे, अलख अमूरत देव।
फिरे सहज भव चक्र में, यह अनादि की टेव ॥५॥
फूल अतर घी दूध में, तिल में तेल छिपाय।
यूं चेतन जड़ कर्म संग, वंध्यो ममत दुख पाय ॥६॥
जो जो पुद्गल की दशा, ते निज माने हंस।
याही भरम विभाव ते, वढ़े कर्म का वंश ॥७॥
रतन वंध्यो गठड़ी विषे, सूर्य छिप्यो घन मांहि।
सिंह पिंजरा में दियो, जोर चले कछु नांहि ॥८॥
ज्युं वांदर मदिरा पीवे, विछू डंकत गात।
भूत लग्यो कौतुक करे, त्युं कर्मों को उत्पात ॥९॥
कर्म संग जीव मूढ़ है, पावे नाना रूप।

कर्म रूप मल के टले, चेतन शुद्ध स्वरूप ॥१०॥
शुद्ध चेतन उज्ज्वल द्रव्य, रह्यो कर्म मल छाय ।
तप-संयम से धोवतां, ज्ञान-ज्योति बढ़ जाय ॥११॥

मुक्ति-उपाय :

ज्ञान थकी जाने सकल, दर्शन श्रद्धा रूप ।
चारित्र थी आवत रुके, तपस्या क्षपन स्वरूप ॥१२॥
कर्म रूप मल के शुधे, चेतन चांदी रूप ।
निर्मल ज्योति प्रगट भये, केवल ज्ञान अनूप ॥१३॥

दृष्टांन्त :

मूसी-पावक-सोहगी, फूँका तनो उपाय ।
रामचरण चारुं मिल्यां, मैल कनक को जाय ॥१४॥
कर्म रूप बादल मिटे, प्रगटे चेतन चंद ।
ज्ञान रूप गुण चांदनी, निर्मल ज्योति अमंद ॥१५॥

कर्म-बीज :

राग-द्वेष दो बीज से, कर्म बंध की व्याधि ।
ज्ञानातम-वैराग्य से, पावे मुक्ति समाधि ॥१६॥

समाधि :

अवसर बीत्यो जात है, अपने बस कुछ होत ।
पुण्य छतां पुण्य होत है, दीपक दीपक ज्योति ॥१७॥
कल्प वृक्ष चिन्तामणि, इस भव में सुखकार ।
ज्ञान वृद्धि इनसे अधिक, भव-दुख भंजन हार ॥१८॥

राई मात्र घट वध नहीं, देख्यां केवल ज्ञान ।
यह निश्चय कर जान के, तजिए प्रथम ध्यान ॥१६॥
दूजा कभी न चिंतीए, कर्मबंध बहु दोष ।
त्रीजा चौथा ध्याय के, करिए मन संतोष ॥२०॥
गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वछा नांहि ।
वर्त्तमान वर्ते सदा सो, ज्ञानी जग मांहि ॥२१॥
अहो समदृष्टि जीवडा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अंतर्गत न्यारा रहे, ज्यूं धाइ खिलावे बाल ॥२२॥
सुख दुःख दोनुं वसत हैं, ज्ञानी के घट मांहि ।
गिरि सर दीखे मुकर में, भार भीजवो नांहि ॥२३॥
जो जो पुद्‌गल फरसना, निश्चे फरसे सोय ।
ममता समता भाव से, करम बंध-क्षय होय ॥२४॥
बांध्यां सोही भोगवे, कर्म शुभाशुभ भाव ।
फल निर्जरा होत है, यह समाधि चित चाव ॥२५॥
बांध्यां बिन भुगते नहीं, बिन भुगत्यां न छुड़ाय ।
आप ही करता भोगता, आप ही दूर कराय ॥२६॥
पथ्य कुपथ घट वध करी, रोग हानि वृद्धि थाय ।
पुण्य पाप क्रिया करी, सुख दुख जग में पाय ॥२७॥
सुख दीयां सुख होत है, दुःख दीयां दुःख होय ।
आप हणे नहीं औरकुं, आपा हणे न कोय ॥२८॥
ज्ञान गरीबी गुरु वचन, नरम वचन निर्दोष ।
इनकुं कभी न छोड़िये, श्रद्धा शील संतोष ॥२६॥

सत मत छोड़ो हे नरा, लक्ष्मी चौगुनी होय।
सुख दुःख रेखा कर्म की, टारी टरे न कोय ॥३०॥
गौधन गजधन रतनधन, कंचन खान सुखान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूल समान ॥३१॥

दृष्टान्त :

शील रतन मोटा रतन, सब रतनां की खान।
तीन लोक की संपदा, रही शील में आन ॥३२॥
शीले सर्प न आभडे, शीले शीतल आग।
शीले हरि करी केसरी, भय जावे सब भाग ॥३३॥
शील रतन के पालकूं, मीठा बोले वैन।
सब जग से ऊँचा रहे, जो नीचा राखे नैन ॥३४॥
तन कर मन कर वचन कर, देत न काहू दुःख।
कर्म रोग पातक जरे, देखत वाका मुख ॥३५॥
पान झरंता इम कहें, सुन तरुवर बनराय।
अबके बिछुड़े कब मिलें, दूर पड़ेंगे जाय ॥१॥
तब तरुवर उत्तर दियो, सुनो पत्र इक बात।
इण घर एही रीत है, इक आवत इक जात ॥२॥
वर्ष दिना की गांठ को, उच्छव गाय बजाय।
मूरख नर समझे नहीं, वर्ष गांठ को जाय ॥३॥

छन्द : सोरठा

पवन तणो विश्वास, किण कारण तें दृढ़ कियो।
इनकी एही रीत, आवे के आवे नहीं ॥४॥

छन्द : दोहा

कर्ज बिगाना काढ़ के, खर्च किया बहु नाम ।
जब मुद्दत पूरी हुवे, देनां पड़सी दाम ॥५॥
बिन दीयां छूटे नहीं, यह निश्चय कर मानि ।
हँस हँसके क्युं खरचीए, दाम बिराना जान ॥६॥

संसार-स्वभाव :

डाभ अणी जलबिंदुवा, सुख-विषयन को चाव ।
भव सागर दुःख जल भरा, यह संसार सुभाव ॥७॥
जीव हिंसा करता थकां, लागे मिष्ट अज्ञान ।
ज्ञानी इम जाने सही, विष मिलियो पकवान ॥८॥
काम-भोग प्यारा लगे, फल किंपाक समान ।
मीठी खाज खुजावतां, पाछे दुःख की खान ॥९॥
जप-तप-संयम दोहिलो, औषध कड़वी जान ।
सुख कारण पीछे घणो, निश्चय पद निर्वाण ॥१०॥

पुण्य-पाप :

चढ़ उत्तंग वहाँ से पतन, शिखर नहीं वो कूप ।
जिस सुख अन्दर दुःख बसे, सो सुख भी दुःख रूप ॥११॥
जब लग जिसके पुण्य का, पहोंचे नहीं करार ।
तब लग उसको माफ है, अवगुण करो हजार ॥१२॥
पुण्य क्षीण जब होत है, उदय होत है पाप ।
दाझे वन की लाकड़ी, प्रजलित आपहि आप ॥१३॥

पाप छिपायां न छिपे, छिपे तो मोटा भाग।
दाबी-दूबी ना रहे, रूई लपेटी आग ॥१४॥

आतम-उद्बोधन :

बहु बीती थोड़ी रही, अब तो सुरत संभाल।
परभव निश्चे चालनो, वृथा जन्म मत हार ॥१५॥
चार कोश ग्रामान्तरे, खरची बांधे लार।
परभव निश्चे जावनो, करिए धर्म विचार ॥१६॥
'रज्जब' रज ऊँची गई, नरमाई के पान।
पत्थर ठोकर खात है, करड़ाई के तान ॥१७॥
अवगुण उर धरिए नहीं, जो होवे वृक्ष बबूल।
गुन लीजे कहां लग कहैं, नहीं छाया में सूल ॥१८॥
जैसी जापे वस्तु है, वैसी दे दिखलाय।
वाका बुरा न मानिए, लेन कहां से जाय ॥१९॥
गुरु कारीगर सारिखा, टांची वचन विचार।
पत्थर से प्रतिमा करे, पूजा लहे अपार ॥२०॥
संतन की सेवा कियां, प्रभु रीझत हैं आप।
जाको बाल खिलाइये, ताको रीझत बाप ॥२१॥
भव सागर संसार में, दीपा श्री जिनराज।
उद्यम करि पहोंचे तिरे, वैठी धर्म जहाज ॥२२॥
निज आतम को दमन कर, पर आतम को चीन।
परमातम का भजन कर, सोई मत परवीन ॥२३॥
समझु संके पाप से, अणसमझु हरपंत।

वे लुखा वे चीकणाँ, इण विध कर्म बधंत ॥२४॥
समभू सार संसार में, समभू टाले दोष ।
समभ-समभ कर जीवड़ा, गया अनंता मोक्ष ॥२५॥
उपशम विषय-कषाय नो, संवर तीनुं जोग ।
क्रिया-जतन-विवेक से, मिटे कुकर्म दुःख रोग ॥२६॥
रोग मिटे समता बधे, समकित-व्रत आराध ।
निर्वैरी सब जीव को, पावे मुक्ति समाध ॥२७॥

बृहदालोचना

(गद्य-विभाग)

सुश्रावक ला० रणजीत सिंह

: मंगलाचरण :

छन्द : दोहा

सिद्ध श्री परमातमा, अरिगंजन अरिहंत ।
इष्ट देव वंदु सदा, भय भंजन भगवंत ।।१।।
अनंत चौबीसी जिन नमुं, सिद्ध अनंता क्रोड़ ।
वर्त्तमान जिनवर सबे, दो कोड़ी नव क्रोड़ ।।२।।
गणधरादिक सर्व साधुजी, समकित व्रत गुणधार ।
यथा योग्य वंदन करूं, जिन आज्ञा अनुसार ।।३।।

विधि—यहाँ एक नवकार मंत्र पढ़ना है। (प्रथम एक नवकार गुणनो)

छन्द : दोहा

पंच परमेष्ठी देवनो, भजनपुर पंचान ।
कर्म अरि भागे सभी, शिवसुख मंगल थान ।।४।।
अरिहंत सिद्धसमरुं सदा, आचारज उवज्झाय ।
साधु सकल के चरणकुँ, वंदुं शीश नमाय ।।५।।
शासननायक सुमरीए, वर्द्धमान जिनचंद ।
अलिय विघन दूरे हरे, आपे परमानंद ।।६।।
अंगुष्ठे अमृत बसे, लब्धि तणा भंडार ।
जे गुरु गौतम सुमरीए, वंछित फल दातार ।।७।।
श्री जिन युगपद कमलमें, मुज मन अलिय वसाय ।

कब उगे वो दिनकरु, श्री मुख दरिसन पाय ॥८॥
प्रणमी पद-पंकज भनी, अरिगंज अरिहंत ।
कथन करूं हवे जीवनुं, किंचित मुज विरतंत ॥९॥

छन्द : अज्ञात

हूँ अपराधी अनादि को, जन्म २ गुनाह किया भरपूर के ।
लूटिया प्राण छः कायना, सेविया पाप अठारह करूर के ॥१०॥

भव-आश्रयी आलोचना—(सम्यक्त्व, आश्रव, पंचपरमेष्ठी तथा आगम सम्बन्धी)

(१) आज तक, इस भव में, पहला संख्याता, असंख्याता अनंता भवों—जन्मों में कुगुरु, कुदेव, और कुधर्म की सद्हणा, परूपणा, फरसना—सेवनादिक सम्बन्धी पाप दोष लगा हो तो (उसका) मिच्छामि दुक्कडं ।

(२) मैंने अज्ञान पणे, मिथ्यात्वपणे, कषाय पणे, अशुभ योग पणे से तथा प्रमाद करके—अपछंदा, अविनीतपणां किया हो—

(३) श्री श्री अरिहंत भगवंत, वीतराग, केवलज्ञानी, गण-धरदेव तथा आचार्य जी महाराज, श्री धर्माचार्य जी महाराज, श्री उपाध्यायजी, साधुजी, आर्या जी महाराज, श्रावक-श्राविका जी, सम्यग्दृष्टि, सधर्मी, उत्तम पुरुषों की, शास्त्र, सूत्र-पाठ की, अर्थ-परमार्थ की, धर्म सम्बन्धी सकल पदार्थो की अविनय, अभक्ति अशातनादिक करी, कराइ, अनुमोदी, मन, वचन-काया से—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव—सम्यग्प्रकार (से) विनय, भक्ति, आराधना, पालना, फरसना सेवनादिक यथायोग्य अनुक्रम से नहीं करी, नहीं कराई, नहीं अनुमोदी तो (उसके लिए) मुझे धिक्कार-धिक्कार, वारंवार मिच्छामि दुक्कडं ।

मेरी भूल-चूक अवगुण अपराध सब क्षमा करो । मैं खमावूं मन, वचन-काया से ।

छन्द : दोहा

मैं अपराधी गुरुदेव को, तीन भवन को चोर।
ठगूं विराना माल मैं, हा हा! कर्म कठोर ॥१॥
कामी-कपटी-लालची, अपछंदा अविनीत।
अविवेकी-क्रोधी-कठिन, महापापी* रणजीत ॥२॥
जे मैं जीव विराधिया, सेव्या पाप अठार।
नाथ तुम्हारी साख से, बार-बार धिक्कार ॥३॥

(हिंसा) प्राणातिपात : पहला पाप

(षड्कायिकी-आलोचना : क्षमापना)

मैंने छकायपन से छह कायों की विराधनी करी—पृथ्वी-काय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बे इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चोरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, सन्नी, असन्नी, गर्भज, चौदह प्रकार के संमूर्च्छिम आदि त्रस, स्थावर जीवों की विराधना मन, वचन काया से की हो, कराई हो, अनुमोदी हो, उठते-बैठते, सोते-जागते, हलते-चलते, शस्त्र, वस्त्र, मकानादिक उपकरण उठाते-धरते, लेते-देते, वर्तते-वर्तावते, अप्रतिलेखना (अप्पडिलेहणा-दुप्पडिलेहणा) दुष्प्रतिलेखना सम्बन्धी, अप्रमार्जन, दुष्प्रमार्जन (अप्पमज्जणा, दुप्पमज्जणा) सम्बन्धी न्यूनाधिक, विपरीत पडि-लेहण सम्बन्धी और आहार-विहार आदि अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों में संख्याता, असंख्याता और निगोद आश्रयी अनन्त जीवों के जितने प्राण लूटे उन सब जीवों का मैं पापी, अपराधी हूँ, निश्चय करके बदले का देनदार हूँ, सब जीव मेरे प्रति क्षमा करो, मेरी भूल चूक, अवगुण, अपराध, सर्व क्षमा करो।

---

* यह कवि का नाम है आलोचक अपना नाम यहां बोलें।

देवसी, राईसी, पक्खी, चोमासी और सांवत्सरिक सम्बन्धी मिच्छामि दुक्कड़ं। मैं वार-वार क्षमाता हूँ आप भी क्षमा करो।

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मेत्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्भं न केणइ ॥१॥

मनोरथ :

वह दिन धन्य होवेगा जिस दिन मैं छह काय के वैर—बदले से निवर्तुंगा। सर्व चौरासी लाख जीव योनि को अभय दान देऊँगा, वह दिन मेरा परम कल्याण का होगा।

छन्द : दोहा

सुख दियां सुख होत है, दुःख दियां दुःख होय।
आप हणे नहीं और कुँ, आपा हणे नहीं कोय ॥१॥

मृषावाद : दूसरा पाप

भूठ वोलना, क्रोध के वश, मान के वश, माया के वश, लोभ के वश, हास्य करके, भय करके, मृषा (भूँठ) वचन वोला हो, इत्यादि अनेक प्रकार से मृषावाद भूँठ वोला, वोलाया और अनुमोदा, उसका मन, वचन काया से मिच्छामि दुक्कड़ं।

छन्द : दोहा

यदि - थापन मोसा मैं किया, करी विश्वासघात।
परनारी धन चोरिया, प्रकट कह्यो नहीं जात ॥१

तो मुभे धिक्कार २ वार-वार मिच्छामि दुक्कड़ं।

मनोरथ :

वह दिन धन्य होवेगा जिस दिन सर्व प्रकार से मृषावाद का त्याग करूंगा, वह दिन मेरा कल्याण रूप होगा।

अदत्तादान (चोरी) : तीसरा पाप

विना दी हुई वस्तु ली हो, तथा वड़ी चोरी—लौकिक विरुद्ध,

अल्प चोरी—घर सम्बन्धी अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों में उपयोग सहित या बिना उपयोग से, मन-वचन, काया से चोरी की, कराई और अनुमोदी तथा धर्म सम्बन्धी ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप श्री भगवन्त गुरुदेव की बिना आज्ञा किया हो, उसका मुझे धिक्कार २ बार-बार मिच्छामि दुक्कडं।

मनोरथ :

वह दिन मेरा धन्य होगा जिस दिन सर्व प्रकार से अदत्ता-दान का त्याग करूंगा, वही दिन मेरा परम कल्याण का होवेगा ॥३॥

मैथुन : चौथा पाप

मैथुन सेवन करने के लिए मन, वचन और काया के योग प्रवर्त्ताये हों, नव वाड़ सहित ब्रह्मचर्य नहीं पाला, नव बाड़ में अशुद्धपन से प्रवृत्ति हुई, मैंने सेवन किया, दूसरों से सेवन करवाया और सेवन करने वाले को भला समझा, उसका मन, वचन-काया से मुझे धिक्कार २ बार-बार मिच्छामि दुक्कडं।

मनोरथ :

वह दिन मेरा धन्य होगा जिस दिन में नव बाड़ सहित ब्रह्मचर्य—शील रत्न आराधूंगा, यानि सर्वथा प्रकार (से) काम विकार से निवर्तूंगा, वह दिन मेरा परम कल्याण का होवेगा ॥४॥

परिग्रह : पांचवाँ पाप

परिग्रह में-सचित=दास-दासी आदि द्विपद, चतुष्पद, (पशु) आदि अनेक प्रकार के, और अचित्त=सोना, चांदी, वस्त्र, आभूषण आदि अनेक प्रकार के हैं, उनकी ममता-मूर्च्छा की हो, क्षेत्र, घर आदि नव प्रकार का बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार का आभ्यन्तर परिग्रह को रखा, रखवाया।

मनोरथ :

वह दिन मेरा धन्य होवेगा जिस दिन सर्व प्रकार से परिग्रह का त्याग कर संसार के प्रपंच से निवर्तूंगा, वह दिन मेरा परम कल्याण रूप होवेगा ॥५॥

रात्रि भोजन : छठा उपव्रत

रात्रि-भोजन सम्बन्धी पाप-दोष प्रमाद से या आकुट्या—जान बूझ कर अथवा पर वश पने सेवें हों तो उसका मिच्छामि दुक्कडं ॥

क्रोध छट्ठवां : पाप

क्रोध करके अपनी आत्मा को तथा पर-आत्मा को दुखी की हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥६॥

मान : सातवां पाप

अहंकार का भाव लाया हो, तीन गर्व, आठ मद आदि किया हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥७॥

माया : आठवां पाप

धर्म सम्बन्धी तथा संसार सम्बन्धी अनेक कर्त्तव्यों में कपट किया हो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥८॥

लोभ : नवां पाप

(पदार्थपर) मूर्च्छा भाव लाया, आशा, तृष्णा, वांछा की हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

दशवां पाप : राग

मन पसन्द वस्तु से स्नेह (अनुराग) किया हो ।

ग्यारहवां पाप : द्वेष

अपसन्द वस्तु देखकर उस पर घृणा की हो ।

बारहवां पाप : कलह

अप्रशस्त (बुरे-कटु) वचन बोलकर क्लेश उत्पन्न किया हो ।

तेरहवां पाप : अभ्याख्यान

किसी को झूठा कलंक दिया हो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

चौदहवां पाप : पैशुन्य

दूसरे की पीठ पीछे चुगली की हो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पन्द्रहवां पाप : परपरिवाद

दूसरे का अवगुण वाद बोला हो तो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

सोलहवां पाप : रति-अरति

इन्द्रिय-विषय जो मनोज्ञ हैं उन पर राग किया और अपसन्द पर द्वेष किया हो तथा संयम-तप आदि पर अरति (अस्नेह) की हो तथा आरम्भादिक असंयम-प्रमाद में रति-स्नेह भाव किया हो और अनुमोदा हो तो मुझे धिक्कार, उसके लिए मन, वचन काया से बार-बार मिच्छामि दुक्कडं।

सतरहवां पाप : माया-मृषावाद

कपट सहित झूठ बोला हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥१७॥

अठारवां पाप: मिथ्यादर्शन-शल्य

श्री जिनेश्वर देव के फरमाये हुए तत्वों में शंका, कंखा आदि विपरीत श्रद्धना, प्ररूपणा की हो ॥१८॥

इस प्रकार अठारह पाप स्थान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जानते-अजानते, मन, वचन काया से सेवन किए, कराए और अनुमोदे, दिन को, रात्रि को, सभा में, एकान्त में, सोते हुए, जागते हुए, इस भव में, पहिला संख्यात, असंख्यात, अनंत भवों में भव-भ्रमण करते आज दिन तक राग-द्वेष, विषय-कषाय, आलस्य-प्रमाद आदि पौद्गलिक प्रपंच, परगुण पर्याय की विकल्प-भूल की, ज्ञान की विराधना की, दर्शन की विराधना की, चरित्र-विराधना की, चरिता-चरित्र की तप की विराधना की, शुद्ध श्रद्धा, शील, संतोष, क्षमा आदि निज स्वरूप की विराधना की, उपशम, विवेक, संवर, सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, ध्यान, मौन आदि

व्रत, पच्चक्खाण, दान-शील-तप वगैरह की विराधना की, परम कल्याणकारी इन बोलों की आराधना, पालनादिक मन, वचन और काया से नहीं की, नहीं कराई और नहीं अनुमोदी।

आवश्यक-अतिचार आलोचना :

छह आवश्यक सम्यक्प्रकार, विधि, उपयोग सहित आराधे नहीं, पाले नहीं, फरसे-स्पर्शे नहीं, विधि, उपयोग रहित, निरादरपनसे किए किन्तु आदर-सत्कार, भाव-भक्ति सहित नहीं किये।

ज्ञान-दर्शन-चरित्रातिचार आलोचना :

ज्ञान के चौदह, समकित के पाँच, बारह व्रत के साठ, कर्मादान (के) पन्द्रह, संलेखना के पांच एवं निन्यानवें (९९) अतिचार में, तथा साधुजी के एकसौ पच्चीस (१२५) अतिचार, बावन (५२) अनाचीर्ण की श्रद्धनादिक में विराधना आदि जो कोई अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार (आदि) सेवन किया, कराया, अनुमोदा, जानतां-अजानतां, तो मन, वचन, काया से उनका मुझे धिक्कार २ बार-बार मिच्छामि दुक्कडं।

मिथ्यात्व-सेवन-आलोचना :

मैंने जीव को अजीव श्रद्धा, प्ररूपा, अजीव को जीव श्रद्धा-प्ररूपा, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म श्रद्धा-प्ररूपा तथा साधु को असाधु और असाधु को साधु श्रद्धा-प्ररूपा तथा उत्तम पुरुष साधु-मुनिराज, महासतियां जी की सेवा-भक्ति, मान्यता आदि यथाविधि नहीं की, नहीं कराई, नहीं अनुमोदी तथा असाधुओं की सेवा-भक्ति-मानता आदि का पक्ष किया, मुक्ति-मार्ग को संसार का मार्ग और संसार के मार्ग को मुक्ति का मार्ग, कर्म सहित को कर्म रहित, कर्म रहित को कर्म सहित यावत् पच्चीस मिथ्यात्व में से कोई मिथ्यात्व सेवन किया, कराया, अनुमोदा, मन, वचन, और काया से। तस्स मिच्छामि दुक्कडं॥

सामूहिक-संक्षिप्त आलोचना :

२५—पच्चीस कषाय सम्बन्धी, पच्चीस (२५) क्रिया सम्बन्धी, तेतीस अशातना सम्बन्धी, ध्यान के १९ दोष, वंदना के ३२ दोष, पौषध के १८ दोष सम्बन्धी मन, वचन और काया से सेवन किया सेवन कराया, अनुमोदा, उसका मुझे धिक्कार-धिक्कार, वार वार मिच्छामि दुक्कडं।

महा-मोहनीय कर्म बंध का तीस स्थानक का मन, वचन और काया से सेवन किया, सेवन कराया, अनुमोदा।

शील की नववाड़, आठ प्रवचन माता की विराधनादि, श्रावक के इक्कीस (२१) गुणों की और वारह व्रतों की, विराधनादि मन, वचन और काया से की, कराई, अनुमोदी।

तथा तीन अशुभ लेश्या के लक्षणों की और वोलों की आराधना की, चर्चा-वार्ता वगैरह में श्री जिनेश्वर देव का मार्ग लोपा, गोपा, नहीं माना, किसी पदार्थ के होते हुए की नास्ति की हो और नास्ति पदार्थ की आस्ति की हो, कलुषता की हो, तथा छः प्रकार के, ज्ञानावरणीय बंध का बोल, ऐसे ही छह प्रकार के दर्शनावरणीय बंध का वोल, आठ कर्म की अशुभ प्रकृति बंध के पचपन्न कारणों से पाप की वयासी प्रकृति बांधी, बंधाई, अनु-मोदी हो (तो) मन-वचन-काया करके उसका मुझे धिक्कार-धिक्कार वार-वार मिच्छामि दुक्कडं। +

एक-एक वोल से लगाकर, कोड़ा-कोड़ी यावत् संख्यता, असंख्याता, अनंता-अनंता वोलों में से जानने योग्य वोलों को सम्यग् प्रकार (से) जाना नहीं, श्रद्धा नहीं और प्ररूपा नहीं तथा विपरीतपन से श्रद्धा आदि की, कराई अनुमोदी हो, मन-वचन-काया से उनका मुझे धिक्कार २ वार-वार मिच्छामि दुक्कडं।

एक २ वोल से लगाकर जाव अनंत २ वोलों में (से) आदर

+ इनके लिए परिशिष्ट देखिए।

ने योग्य बोलों को आदरा नहीं, आराधा नहीं, पाला नहीं, परसा नहीं, विरधना, खंडना आदि की, कराई, अनुमोदी हो (तो) मन वचन-काया से उनका मुझे धिक्कार-धिक्कार बारं-बार मिच्छामि दुक्कडं।

श्री जिनभगवंतजी महाराज आपकी आज्ञा में जो प्रमाद किया और सम्यक् प्रकार उद्यम नहीं किया, नहीं कराया नहीं अनुमोदा हो (तो) मन वचन, काया करके तथा अनाज्ञा में उद्यम किया, कराया, अनुमोदा हो, एक अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र दूसरा कोई स्वप्न मात्र में भी श्री भगवंत महाराज आपकी आज्ञा से न्यूनाधिक विपरीत प्रवर्त्ता हूँ तो उसका मुझे धिक्कार २ बार-बार मिच्छामि दुक्कडं।

उपसंहार

पद्य-आलोचना :

छन्द : दोहा

श्रद्धा अशुद्ध प्ररूपणा, करी फरसना सोय।
जान अजान पक्षपात में, मिच्छामि दुक्कडं मोय ॥१॥
सूत्र अर्थ जानुं नहीं, अल्प बुद्धि अनजान।
जिन भाषित सब शास्त्र, अर्थ पाठ हर मान ॥२॥
देव-गुरु धर्म-सूत्रकुं, नव तत्त्वादिक जोय।
अधिका-ओछा जे कह्या, मिच्छामि दुक्कडं मोय ॥३॥
हुं मुंगसेलिया हो रह्या, नहीं ज्ञान रस भीज।
गुरु सेवा न कर सकुं, किम मुज कारज सीज ॥४॥
जाने देखे जे जे सुने, देवे सेवे मोय।
अपराधी उन सबन को, बदला देशु सोय ॥५॥

गबन करूं बुगचा रतन, द्रव्य-भाव सब कोय ।
लोकन में परगट करूँ, सूई पाई मोय ॥६॥
जैनधर्म शुद्ध पाय के, वरतुं विषय कषाय ।
एह अचंभा हो रह्या, जल में लागी लाय ॥७॥
जितनी वस्तु जगत में, नीच नीच सें नीच ।
सबसे मैं पापी बुरो, फसुं मोह के बीच ॥८॥
एक कनक अरु कामिनी, दो मोटी तलवार ।
उठा था जिन-भजन कूँ, बीच में लियो मार ॥९॥

छन्द : कवित्त

छोड़ि के संसार छार-छार से विहार करे,
माया को निवारी फिर माया दिल धारी है ।
पिछला तो धोया कीच फिर कीच बीच रहे,
दोनों पंथ खोये वात बनी सो बिगारी है ॥
साधु कहलाये नारी निरखै लोभया और,
कंचन की करे चाह प्रभुता विसारी है ।
लीनी है फकीरी फिर अमीरी की आस करे,
काहे को धिक्कार सिर की पगड़ी उतारी है ॥१०॥

छन्द : दोहा

त्यागन कर संग्रह करुँ विषय वमन जिम आहार ।
तुलसी ए मुझ पतित कुँ, बार बार धिक्कार ॥११॥
राग द्वेष दो वीज हैं कर्म बन्ध फल देत ।
इनकी फांसी में बंध्यो, छूटूं नहीं अचेत ॥१२॥

रतन बांध्यो गठड़ी विषे, भान छिप्यो घन मांहि ।
सिंह पिंजरा में दीयो, जोर चले कछु नांहि ॥१३॥
बुरो बुरो सब को कहे, बुरो न दीखे कोय ।
जो घट शोधुं आपनो, तो मोसुं बुरो न कोय ॥१४॥
कामी-कपटी-लालची, कठण लोह को दाम ।
तुम पारस परसंग थी, सुवरन थासुं स्वाम ॥१५॥

छन्द : परिगीतिका

जप हीन हुँ तपहीन हुँ, प्रभो हीन संवर समगतं ।
हे दयाल कृपाल करुणा निधि, आयो प्रभु शरणागतं ॥१६॥

छन्द : दोहा

नहीं विद्या नहीं वचन बल, नहीं धीरज गुण ज्ञान ।
तुलसीदास गरीब की, पत राखो भगवान ॥१७॥
विषय कषाय अनादि को भरियो रोग अगाध ।
वैद्यराज गुरु शरण थी, पाऊँ चित समाध ॥१८॥
कहेवा में आवे नहीं, अवगुण भरयो अनंत ।
लिखवा मैं क्युं कर लिखुं, जाणो श्री भगवंत ॥१९॥
आठ कर्म प्रबल करी, भमियो जीव अनादि ।
आठ कर्म छेदन करी, पावे मुक्ति समाधि ॥२०॥
पथ कुपथ कारण करि, रोग हान वृद्धि थाय ।
इम पुण्य पाप क्रिया करी, सुख दुःख जग में पाय ॥२१॥
बांध्या विण मुक्ते नहीं, विण भुक्त्यां न छुड़ाय ।

आपही करता भोगता, आप ही दूर कराय ॥२२॥
सुसीया सें अविवेक हुँ, आंख मींच अंधियार।
मकड़ी जाल बिछाय के, फंसु आप धिक्कार ॥२३॥
सब भक्खी जिम अग्नि हूँ, तापियो विषय कषाय।
अपच्छंदा अविनीत मैं, धर्मी ठग दुःख दाय ॥२४॥
कहा भयो घर छाड़ के, तज्यो न माया संग।
नाग तजी जिम कांचली, विष नहीं तजियो अंग ॥२५॥
आलस विषय कषाय वश, आरम्भ परिग्रह काज।
योनि चौरासी लख भ्रम्यो, अब तारो महाराज ॥२६॥
आतम निंदा शुद्ध भणी, गुणवंत वंदन भाव।
राग द्वेष उपशम करी, सबस खमत खिमाव ॥२७॥
पुत्र कुपुत्र जे मैं हुओ, अवगुण भरयो अनंत।
याहि ते विरुद विचारके, अब तारो महाराज ॥२८॥
शासन पति वर्द्धमान जी, तुम लग मेरी दौड़।
जैसे समुद्र जहाज विन, सूजत और न ठौर ॥२९॥
भव-भ्रमण संसार दुःख, ताका वार न पार।
निर्लोभी सतगुर बिना, कौन उतारे पार ॥३०॥
भव सागर संसार में, दीपो श्री जिनराज।
उद्यम करि पहोंचे तिरे, वैठी धर्म जहाज ॥३१॥
पतित उद्धारन नाथजा, अपनो विरुद विचार।
भूल चूक सब माहरी, क्षमिये बारंबार ॥३२॥
माफ करो सब माहरा, आज तलक ना दोष।

दीन दियाल देवो मुझे, श्रद्धा शील संतोष ॥३३॥

धर्म-मर्म :

देव अरिहंत गुरु निर्ग्रंथ, संवर निर्ज्जरा धर्म।
केवली भाषित शास्त्र, यही जैन मत मर्म ॥३४॥

शरण :

इस अपार संसार में, शरण नहीं अरु कोय।
यातें तुम पद भक्त ही, भक्त सहायी होय ॥३५॥

मनोरथ :

छूटूँ पिछला पापसें, नवा न बंधु कोय।
श्री गुरुदेव प्रसाद से, सकल मनोरथ होय ॥३६॥
आरम्भ परिग्रह तजकरी, समकित व्रत आराध।
अँत अवसर आलोयके, अनशन चित्त समाध ॥३७॥
तीन मनोरथ ए कह्या, जे ध्यावे नित्य मन्न।
शक्ति सार वरते सही, पावे शिव सुख धन्न ॥३८॥

आज्ञा-याचना :

श्री पंच-परमेष्ठी भगवंत, गुरुदेव महाराज जी ! आपकी आज्ञा है ? सम्यग् ज्ञान-दर्शन, चरित्र-तप-संयम, संवर-निर्जरा, मुक्ति मार्ग (का) यथा शक्ति से शुद्ध, उपयोग सहित, आराधने, पालने, फरसने, सेवने की आज्ञा है।

वार-वार शुभयोग सम्बन्धी—स्वाध्याय, ध्यानादिक, अभि-ग्रह, नियम, पच्च खाणादिक करने, करवाने की सुमति, गुप्ति प्रमुख सर्व प्रकारे आज्ञा है।

उपसंहार

निश्चल चित शुद्ध मुख पढ़त, तीन योग थिर थाय ।
दुर्लभ दीसे कायरा, हलु कर्मी चित्त भाय ।।१।।
अक्षर पद हीना अधिक, भूल चूक कही होय ।
अरिहँत सिध-आतम साख से, भिच्छामि दुक्कडं मोय ।।२।।
भूल-चूक मिच्छामि दुक्कडं ।।

समाप्त

(इति श्री श्रावक लाला रणजीतसिंह जी कृत
बृहदालोयणा संपूर्ण)

: मंगलाचरण :

सिद्ध-अरिहंत वंदन :

छन्द : दोहा

सिद्ध श्री परमात्मा अरिगंजन अरिहंत ।*
इष्ट देव वन्दू सदा, भय-भंजन भगवंत ॥१॥

मूलार्थ—सर्व बन्धन से मुक्त, ज्ञान एवं सुख से युक्त सिद्ध पद वाले परमात्मा—परम - श्रेष्ठ आत्मा, निराकार तथा कर्म रूप शत्रुओं के हंता (मारने वाले) अरिहंत देव (साकार भगवान) ऐसे इष्ट देव को सदा प्रणाम करूं जो तीन प्रकार के भय—डर को नाश करने वाले भगवान हैं।

टिप्पणी : सिद्ध : सर्व कर्म विमुक्त आत्मा अथवा स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति हो गयी है जिन्हें ऐसे अनाकार परमात्मा।

अरिगंजन=शत्रु हंता, अरिहंत अरि+कर्म रूप शत्रु के, हंत+नाशक, हनन करने वाले अर्थात् जिन्होंने आठ कर्म रूप शत्रुओं का हनन करके आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया वे आत्माएं अरिहंत कही जाती हैं।

भय के सात प्रकार हैं—इहलोक, परलोक, आदान, अकस्माद्, आजीव, (वेदना भय) मरण, अश्लोक-अपयश भय किन्तु मुख्यतः तीन प्रकार हैं—शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक। रोग आदि शारीरिक, चिन्ता, शोकादि मन के एवं जन्म-मरण, कर्म आदि आत्मा के भय हैं।

---

* ख प्रति यह पद नहीं है।

पंच-परमेष्ठी-वंदन :

अरिहंत सिद्ध सिमरूं सदा, आचारज उवझाय।
साधु सकल के चरण कूं, वंदू शीश नमाय ॥२॥

मूलार्थ—अरिहंदेव और सिद्धभगवान का सदा स्मरण मन में करूं तथा आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधुओं को सिर नमा कर वंदना करता हूँ।

टिप्पणी : अरिहंत, सिद्ध का मन में स्मरण तथा आचार्य उपाध्याय एवं साधुओं को चरण-वंदन है क्योंकि ये वर्त्तमान में विद्यमान होते हैं। पूर्व के अरिहंत एवं सिद्ध समीपस्थ न होने से स्मरणीय हैं ऐसा कवि का मन्तव्य परिलक्षित होता है।

आचार्य : वह साधु जो आचार-धर्म की व्यवस्था करते हैं, धर्म, संघ रूप शासन का अधिपति, शासक आचार्य कहलाता है।

उपाध्याय : वे श्रमण जो सिद्धान्त विज्ञ हैं तथा आगम ज्ञान प्रदाता हैं उपध्याय कहलाते हैं। ये गुणवृद्ध एवं उपकारी होने से वंदनीय हैं।

शासनदेव-वंदन :

शासन नायक सिमरीए, भगवंत वीर जिनंद।
अलिय विघन दूरे हरे, आपे परमानन्द ॥३॥

मूलार्थ—धर्म शासन के स्वामी भगवान महावीर-जिनेन्द्रदेव का स्मरण करें जो मिथ्या दोषारोपण (कलंक), बाधाएँ दूर करते हैं, स्थायी सुख देते हैं, क्योंकि वे स्वयं परमआनन्द रूप हैं।

टिप्पणी : धर्म नायक श्री वर्द्धमान महावीर जिनेश्वर के स्मरण से अलीक—झूठा कलंक बाधाएँ दूर होती हैं इसलिए वे स्वयं परमानन्द स्वरूप हैं।

जिनंद : जिनेन्द्र, जिन-राग-द्वेषशत्रु को जीतने वाले, उनके भी अधिपति जिनेन्द्र कहे जाते हैं। ये तीर्थंकर, शासनेश एवं नायक, नेता होते हैं तथा इनके द्वारा तीर्थ-धर्म की स्थापना, प्रवर्त्तना होने पर जिनेन्द्र अवस्था आत्मा को प्राप्त होती है। जिन के दो प्रकार हैं—सामान्य और विशेष । सामान्य केवली या केवलज्ञानी, विशेष तीर्थंकर। अर्हद् भाव दोनों में एक सा ही है किन्तु विशेष में तीर्थंकरत्व मुख्य है।

गणधर-वंदन :

अंगूठे अमृत वसे, लब्धि तणा भंडार।
श्री गुरु गौतम सिमरीए, वंछित फल दातार ॥४॥

मूलार्थ—जिनके अंगूठे में अमृत का वास है, जो लब्धि—शक्तियों के भंडार हैं ऐसे श्री गुरु इन्द्रभूति गौतम का स्मरण करता हूँ (करो) जो इच्छित-मन चाहे फल देने वाले हैं।

टिप्पणी : गुरु गौतम का नाम इन्द्रभूति है। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। अपने युग के महान पंडित, तार्किक एवं याज्ञिक थे। भगवान महावीर के शिष्य बने, उनसे दीक्षा ग्रहण की और प्रथम गणधर बने। उग्र तपः, कठिन पर विशुद्ध संयमाचरण से नाना प्रकार की लब्धियां-शक्तियाँ उत्पन्न हो गईं थी उनमें से एक अंगुष्ठ लब्धि थी जिसके बल पर उन्होंने ५०० तापसों को क्षीर-आहार करवा दिया था। तब से ही उनके लिए उक्त उक्ति 'अंगूठे अमृत वसे' प्रचलित हो गई।

गुरु-विनय :

श्री गुरुदेव प्रसाद से, होत मनोरथ सिद्ध।
ज्युं घन वरसत वेली-तरु, फूल फलन की वृद्ध ॥५॥

मूलार्थ—गुरुदेव की कृपा से मनुष्य के मन के मनोरथ सिद्ध

अनघड़ पाषाण को हाथ में लेकर शस्त्र द्वारा उसे तरास कर, घड़ कर एक सुन्दर मूर्त्ति का रूप प्रदान करता है और पूजा-स्थान को प्राप्त कर लेता जड़ होता हुआ भी। इसी प्रकार गुरु अपने वचन रूपी शस्त्र से अबोध, मूढ़ शिष्य के अज्ञान आदि अवगुण को दूर कर ज्ञानादि गुण का पात्र बना देता है। ये वचन कभी २ कठोर होने पर हितावह ही होते हैं क्योंकि मन, इन्द्रिय आदि को मर्यादा जीवन रखते हैं।

गुरु सम जग में को नहीं, ज्ञान दान दातार।
जाणी ने माने नहीं, सांचा तेह गंवार ॥६॥

मूलार्थ—गुरु के बराबर संसार में और कोई ज्ञान दान का देने वाला नहीं है। ऐसा जानकर भी जो गुरु की शिक्षा को नहीं मानता वह सचमुच में मूर्ख ही है।

खोल दिए हैं ऐसे गुरुदेव को मेरा नमस्कार हो।" *निम्न पद्य में गुरु को ज्ञान का प्रकाश का ही स्वीकार किया है—

कृपा सिंधु नर रूप हरि, महा मोहतम पुंज ।
जासु वचन रवि-कर निकर, वंदो गुरु पद कंज ॥१०॥

मूलार्थ—जो मनुष्य के रूप में भगवान हैं, दया के सागर हैं तथा जिनके वचन से महा मोहरूप अंधेरे का समूह नष्ट हो जाता है जैसे सूर्य की किरण-समूह से अंधकार, (का नाश हो जाता है) ऐसे गुरु के चरण-कमलों वंदन हो।

टिप्पणी : गुरुदेव मनुष्य रूप में साक्षात् भगवान ही हैं। अर्थात् गुरु और भगवान में मूलतः कोई अन्तर नहीं, ज्ञान दृष्टि से दोनों का एक ही कार्य है। आगम में—"धम्म दए, मग्ग दए" विशेषणों का उल्लेख है अर्थात् नमस्कार हो धर्म दायक, मार्ग-दायक को। गुरुवंदन पाठ में भी कल्याण रूप, मंगल रूप, देव रूप एवं ज्ञान रूप कह कर स्तुति-नमस्कार किया गया है।

वंदो संत समान चित, हित अनहित नहीं कोय ।
अंजुल गति शुभ सुमन जिम, सम सुगंध कर दोय ॥११॥

मूलार्थ—मैं उन गुरु की वंदना करूं जिनका चित्त संत हृदय जैसा स्वच्छ और सम है उसमें हित-अहित नहीं है अथवा मैं उन संत-आत्मा को वंदन करूं जिनका मन हित-अहित (भले-बुरे) में समान रहता है। जिस प्रकार अंजलि-कर पुट में रहा सुन्दर फूल दोनों हाथों को समान रूप से सुगंधित कर देता है।

टिप्पणी : गुरु वस्तुतः संत ही होते हैं, गृहस्थ गुरु लौकिक

विद्या के लिए होते हैं, अध्यात्म एवं अलौकिक या लोकोत्तर विद्या का स्वामी संत पुरुष होते हैं। ये राग-द्वेष को स्वयं अपने मन से दूर करते हुए सम भाव का अभ्यास करते हैं, प्राणीमात्र के प्रति इनके मन में समता वृत्ति रहती है, अपने हित में ये प्रसन्न तो अहित में अप्रसन्न नहीं होते हैं। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का मूर्त्त रूप इनके जीवन में ही प्राप्त होता है गृहस्थ के नहीं।

इन्हे (गुरु-संत) श्रेष्ठ फूल से उपमित किया गया है कि जिस प्रकार वह कर-पुट में रहा दायें-बायें का बिना भेद-भाव किये दोनों हाथों को समान सुगंधित करता है उसी प्रकार गुरु भी प्राणी मात्र पर, शिष्य पर छोटे-बड़े का, विनीत-अविनीत का बिना विचार किए हृदय में अनुग्रह भाव रखते हैं।

श्री जिन युग पद-कमल में, मुज मन भवर बसाय।
कब ऊगे वो दिन करु, श्री मुख दरसन पाय ॥७॥

मूलार्थ—जिनेन्द्र देव के दोनों पाद—पग रूप कमल में मेरा मन रूप भ्रमर बसे, तथा वह दिनकर कब उदय होगा जब कि मुझे श्री मुख—आप भगवान के साक्षात् दर्शन प्राप्त होंगे।

विषय प्रवेश

प्रणमी पद-पंकज भणी, अरिगंजन अरिहंत।
कथन करूं अब जीव को, किंचित मुज विरतंत ॥१॥

मूलार्थ—कर्म रूप शत्रुओं को संहार करने वाले श्री अरिहंत देव के चरण-कमलों में प्रणाम करके मैं (कवि) अब जीव का तथा थोड़ा सा मेरा अपना वृतान्त-हालत का वर्णन कहूँगा।

टिप्पणी—अरिहंत देव को चरण वंदना करके कवि जीव का तथा अपने स्वभाव एवं विभाव परिणति का चिन्तन, अर्थात् आत्म-निन्दा, गर्हा, आलोचना करता है। अरिहंत देव के वंदन से अभिप्राय गुरुसाक्षी पूर्वक उक्त क्रिया करना है।

आरम्भ विषय कषायवश, भमियो काल अनंत।
लाख-चौरासी योनि से, अब तारो भगवंत ॥२॥

मूलार्थ—देव! हिंसा, शब्दादि विषय के वशीभूत होकर यह जीव अनंत काल तक संसार में जन्म-मरण करता हुआ घूमता रहा है। हे भगवन्! चौरासी लाख जीव-योनि से अब इसे पार कीजिए।

टिप्पणी: आरम्भ और कषाय जैन दर्शन के पारिभाषिक

शब्द हैं। इनका अर्थ है क्रमशः हिंसा, और क्रोध, मान, माया, एवं लोभ। प्राणी (जीव) के संसार-भ्रमण, जन्म-मरण, सुख-दुःख, अज्ञान, मूढ़ आदि अवस्थाओं का कारण ये दो आरम्भ और कषाय हैं। इससे कर्म का संपादन होता है, कर्म से जन्म मरण आदि। "रागो दोसो य दोवि कम्म वीय, कम्मस्स जाई मरणास्स मूलं।"—उक्त, जीव की इस पतनावस्था का कारण उसका यह विकार एवं हिंसादि अशुभ क्रिया ही है। इसमें अन्य किसी देवादि परोक्ष शक्ति का हाथ नहीं है। कवि को ऐसी प्रतीति होगई है अतः देवाधिदेव से चौरासी लाख जीव-योनि से पार होने के लिए विनति करता है।

देव गुरु धर्म सूत्र में, नव तत्त्वादिक जोय।
अधिका ओछा जे कह्या, मिच्छामि दुक्कडं मोय ॥३॥

मूलार्थ—देव, गुरु, धर्म और शास्त्र तथा जीव आदि नव ताव एवं अन्य जड़-चेतन द्रव्य, वस्तुभाव के सम्बन्ध में उनके स्वरूप का अधिक या कम रूप में प्ररूपणा की (कहा) हो मुझे उसका पश्चत्ताप है अर्थात् ऐसा मेरे द्वारा जो दुष्ट कृत्य हो गया हो वह मिथ्या हो।

टिप्पणी : आगम में वर्णित देव, गुरु, धर्म और तत्त्वादि का जो स्वरूप है उससे विपरीत कम या अधिक उनका श्रद्धना, प्ररूपणा तथा स्पर्शना करना अपराध है, दोष है। तीर्थंकरों की आज्ञा के विपरीत होने से उनकी अशातना है। क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, मानव अल्पज्ञ हैं अतः उनके ज्ञान को चुनौती देना उचित नहीं, साथ ही किसी भी तत्त्व का जिस रूप में प्रतिपादन हुआ उसका उसी रूप में प्ररूपण न कर तोड़-मोड़ कर करना नैतिक अपराध है।

देव अरिहंत ही होते हैं, गुरु निर्ग्रन्थ, अहिंसा, संयम, तप

लक्षण वाला धर्म तथा जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध और मोक्ष ये नव सद्भाव पदार्थ तत्त्व हैं।

अरिहंत : अरिहंत का अर्थ राग-द्वेष से सर्वथा रहित आत्माएं हैं।

राग-द्वेष की गांठ से निकलने का जो प्रयत्न कर रहे हैं अथवा राग-द्वेष रूप गांठ को जिन्होंने ढील (शिथिल) कर दिया है, अहिंसादि पांच महाव्रत, ज्ञान आदि पांच आचार, इन्द्रिसंयम, समिति, गुप्ति (विचारपूर्वक चलना, बोलना, ग्रहण करना, वस्तु का उठाना-रखना तथा त्याग करना, मन, वाणी और शरीर का निग्रह करना) से युक्त त्यागी पुरुष हैं वे गुरु होते हैं।

तत्त्व : सद्भाव पदार्थ, जिसका कभी नाश न हो ऐसा पदार्थ तत्त्व कहा जाता है। मूल में जीव और अजीव ये दो तत्त्व ही हैं। शेष इन दोनों के पर्याय हैं।

मोह अज्ञान मिथ्यात्व को, भरियो रोग अथाग।
वैद्यराज गुरु शरण थी, औषध ज्ञान वैराग ॥४॥

मूलार्थ—आत्मा में अज्ञान और मोह तथा मिथ्यात्व का अत्यधिक रोग भरा पड़ा है। इसकी उपशान्ति गुरु रूप वैद्य की शरण, ज्ञान तथा वैराग रूप औषधि से ही हो सकती है।

टिप्पणी : आत्मा अनादि काल से मोह, अज्ञान, मिथ्यात्व रूप रोग से रुग्ण है। यह रोग कर्म रोग है अतः ज्ञान और वैराग्य —मोक्षाभिलाषा तथा विषय उपरति रूप भाव औषधि से ही दूर होती है। शारीरिक रोग ही द्रव्य औषधि से ठीक हो सकते हैं।

मिथ्यात्व का अर्थ है विपरीत दृष्टि, अयथार्थ दृष्टिकोण। जो तत्त्व जिस रूप में हैं उसे उस रूप में न देखकर भिन्न विपरीत रूप में देखना, श्रद्धना, प्ररूपण करना एवं आचरण करना

मिथ्यात्व का सर्वांग स्वरूप है। मिथ्यात्व-मिथ्या परिणामों वाला जीव मिथ्यादृष्टि और ऐसे जीव का ज्ञान-जानना और उसकी शक्ति अज्ञान कहलाती है क्योंकि जैसी अर्न्तदृष्टि होती है वस्तु वैसी ही दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है आत्मा के व्यामोहित होने का, वह विवेक विकल, भ्रष्ट होता हुआ असत् को सत् और सत् को हेच मानता हुआ सदा अशाश्वत, मिथ्या परिणति में ही प्रवृत्त, स्व-पर की विभाजित रेखा खींचता हुआ संसार में जन्म-मरण करता है। ऐसी परिणति वाला आत्मा बन्धन से मुक्ति की ओर अग्रसर नहीं होता।

यह मिथ्या, अज्ञान तथा मोह परिणति ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा नष्ट हो सकती है और वह ज्ञान और वैराग्य स्वभाव परिणति में रहने वाले त्यागी पुरुष, गुरु आदि की शरण से प्राप्त हो सकेगी ऐसा कवि का आशय है।

जेमे जीव विराधिया, सेव्या* पाप अठार।
प्रभु तुम्हारी साख से, बार-बार धिक्कार ॥५॥

मूलार्थ--यदि मेरे द्वारा किसी जीव की विराधना--पीड़ा दी गई, हुई हो तथा अठारह पापों का सेवन हुआ हो तो हे प्रभु! आपकी साक्षी से इस दुष्कर्म के लिए मुझे बार २ धिक्कार है।

बुरा बुरा सबको कहे, बुरा न दीखे कोय।
जो घट सोधूं आपणा, मो सम बुरा न कोय ॥६॥

मूलार्थ—देव! व्यक्ति सभी को "यह बुरा है २" कहता है किन्तु वस्तुतः कोई बुरा दिखायी नहीं देता, यदि मैं अपने हृदय को देखता हूं तो मेरे समान कोई बुरा नहीं है।

---

* सेया

कहेवा में आवे नहीं, अवगुण भर्या अनंत।
लिखवा में क्यूं कर लिखूं, जानो श्री भगवंत ॥७॥

मूलार्थ- भगवन् ! मेरे अन्तर में अनन्त—अनगणित अवगुण भरे हुए हैं, वे जिह्वा द्वारा कहे नहीं जा सकते तथा ना ही लेखनी द्वारा लिखे जा सकते हैं, बताओ देव ! मैं उन्हें कैसे कहूँ और लिखूं उन्हें तो आप ही जानते हैं भगवन् !

टिप्पणी : उक्त पद त्रय में आत्म-निंदा, गर्हा तथा आलोचना का कवि ने निर्देश किया है। आत्म-निंदा से अपनी भूल की स्वीकृति, अशुभ क्रिया व कर्म के प्रति घृणा, निवृत्ति, शुभ कर्म की रुचि तथा कृत के प्रति पश्चत्ताप होता है। भूल स्वीकृति के बाद ही उसका पाश्चात्ताप, अनुताप सुलगता है जिसमें वे सब कर्म जल कर समाप्त प्राय हो जाते हैं। जब तक ऐसी परिणति नहीं होती तब तक मुख से उच्चरित "मिच्छामि दुक्कडं" मात्र निरर्थक, द्रव्य, एवं वचन का व्यापार ही होगा।

विनय :

करुणानिधि कृपा करी, कठिन कर्म मोय छेद।
मोह अज्ञान मिथ्यात्व का, करिये गंठि भेद ॥८॥

मूलार्थ—हे दया सागर ! दया करके मेरे कठोर, क्रूर कर्मों का नाश करें। मेरे द्वारा संचित, आत्म-प्रदेशों पर अवस्थित मोह, अज्ञान तथा मिथ्यात्व का ग्रन्थि भेद कीजिए।

टिप्पणी : आठ प्रकार के कर्मों में सबसे कठिन, उग्र, तथा भयंकर कर्म मोह ही है। स्थिति, अनुभाव (रस) अर्जन कारण आदि अन्य कर्म से उग्र, भयंकर हैं अत: मोह कर्म वस्तुत: कठिन ही है। इसके दो भेद हैं- दर्शन मोह, चरित्र मोह। पहले की मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतियाँ अति कठिन हैं। आलोचक ने मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व की

ग्रंथि भेद की बात कही है। आगम में मोह कर्म के उपार्जन के चार कारण वर्णित हैं, तीव्र क्रोध, तीव्र माया, तीव्र लोभ। मिथ्यात्व का ग्रंथि भेद होने पर जीव का अज्ञान, मोह मिथ्यात्व दूर हो जाता है और सम्यक्त्व, ज्ञान, एवं विराग उत्पन्न होता है।

ग्रन्थि भेद : कर्मों से उत्पन्न होने वाले जीव के तीव्र राग-द्वेष रूपी परिणामों को ग्रन्थि कहते हैं। कठोर पची हुई सूखी गांठ की तरह, इस कर्म-ग्रन्थि का भी भेदन करना अर्थात् खोलना बड़ा कठिन कार्य है। इसी ग्रन्थि के भेदन और अभेदन पर ही जीव के भव्य और अभव्य भेद हुए हैं। जो जीव अनादि मिथ्यात्व की गांठ को तीन करण लब्धि – (परिणाम और शक्ति) यथा प्रवृत्त करण, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, के द्वारा भेद देता है वह भव्य और जो नहीं भेद सकता वह अभव्य है। पहला उत्तरोत्तर शुद्धि को प्राप्त करता हुआ मुक्त होता है दूसरा नहीं। उक्त तीनों करण जीव मिथ्यात्व दलिकों के तीन पुञ्ज करता हैं—शुद्ध, अर्द्ध-शुद्ध और अशुद्ध। यही ग्रंथि भेद का संक्षिप्त स्वरूप है।

पतित उद्धारण नाथ जी, अपनो विरुद विचार।
भूल-चूक सब माहरी, खमिए बारंबार ॥९॥

मूलार्थ – नाथ! आप पतित-गिरे हुए प्राणियों का उद्धार-कल्याण वाले हैं, आप स्वयं अपनी महानता पर विचार करते हुए मेरी (हमारी) सारी त्रुटियों को बार-बार भी क्षमा कर दीजिए क्योंकि मैं पतित जो ठहरा, मेरे द्वारा अनेक बार भूल होती रहती हैं।

माफ करो सब माहरा, आज तलक ना दोष।
दीन दयाल देवो मुझे, श्रद्धा शील संतोष ॥१०॥

मूलार्थ—देव ! मेरे आज तक के सब दोष-भूलों को क्षमा करदो, हे दीनों पर दया करने वाले आप मुझे धर्म, श्रद्धा, सदाचार तथा पुद्गल के प्रति संतोष प्रदान करने वाले बनो।

आतम निंदा शुद्ध भणी, गुणवंत वंदन भाव।
राग-द्वेष पतला करी, सबसे खिमत-खिमाव ॥१०॥

मूलार्थ—विधि पूर्वक आत्म-अपने अशुभ कर्म आदि के प्रति पश्चात्ताप करके, गुणवानों को वंदना करके तथा मन के राग और द्वेष भाव को मन्द या शांत करके सर्व प्राणियों-जीव योनि से क्षमत-क्षमापना करूं ऐसा मेरे मनका भाव है।

टिप्पणी : उपर्युक्त पद में आलोचक के मन का भाव तथा आत्म-विशुद्धि का उपाय वर्णित है कि-कृत्य कर्मों की निन्दा करना, गुणी पुरुषों की स्तुति एवं वंदना तथा क्रोधादि कषाय को शान्त करके सर्व प्राणियों से क्षमत-क्षमापना करना। आत्म-निंदा : आत्म-साक्षी अर्थात् अपनी आत्मा की साक्षी से अपने द्वारा हुए दुष्कृत्यों-बुरे कर्मों की निन्दा-उसके लिए मनः, वाणी से बुरा स्वीकार कर पश्चात्ताप करना आत्म-निन्दा—अपनी निन्दा है। आत्म-निन्दा से कर्म दूर होते हैं तथा पर-निन्दा से कर्म-बन्ध होते हैं।पहली में मन के भाव शुभ तो दूसरी में अशुभ होते हैं।बिना आत्म-निन्दा कर्म दूर नहीं होते क्योंकि कृत—किए कर्म को बुरा मानने के भाव भूल की स्वीकृति है और होने का कि "ये क्यों हो गये मेरे द्वारा ? क्रोध, मान, माया और लोभ वश होगये हैं, मैं जानता हुआ भी मूढ़ होगया" आदि अनुताप, पश्चात्ताप रूप भट्टी जलती है जिसमें कर्म रूप मैल जलकर दग्ध हो जाते हैं।

निंदा का दूसरा रूप गर्हा है। गर्हा गुरु की साक्षी से की गई आत्म-निन्दा है।

गुणवंत-वंदन : अपने से अधिक गुण वालों की स्तुति,

प्रशंसा, वड़ाई तथा प्रणाम करना गुणवंत-वंदन भाव हैं। गुण से अभिप्राय यहाँ ज्ञान, दर्शन, और चारित्र के हैं। इससे अपने हृदय में रहे मिथ्या अभिमान का नाश तथा गुण की उपलब्धि होती है।

तीसरा उपाय राग-द्वेष को पतला करना है। जब तक ये गाढ़-तीव्र रहेंगे तब तक क्षमा, शाँति आदि गुण तथा क्रिया व्यवहार में आयेगी नहीं और आत्मा तीव्र क्रोधादि से मोह कर्म का पुन: बंध करता रहता है। क्षमत-क्षमापना : क्षमा लेना और देना ही खिमत-खमावन है। अपराध होना स्वाभाविक सा है क्योंकि मनुष्य अपूर्ण है उसके मन में आज्ञा द्वेन, मोह के कारण द्वेप-बुद्धि जागृत होती है और वह दूसरे का अपराध कर वैठता है। किन्तु उस अपराध के लिए उससे क्षमा-याचना करना तथा अपराधी के प्रति क्षमा देना आवश्यक है अन्यथा राग-द्वेप मन्द न होकर भावनाओं में कठोरता बनी रहेगी, वह कषाय-क्रोधादि श्रावक के लिए वताए गए निश्चित समय पर दूर होना चाहिए, यदि ऐसा न हुआ तो श्रावक का मूल सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन नष्ट हो जायेगा।

क्षमत-क्षमापना से मन में प्रसन्नता इससे सर्व प्राणी-प्राणी-भूत-जीव और सत्वों प्रति मैत्री भाव उत्पन्न होता है तथा मैत्री भाव से भाव-विशुद्धि करण होता है। इससे पूर्व वद्ध वैर परम्परा की समाप्ति हो जाती है।

प्रतिज्ञा-भावना :

छूटू पिछला पाप से, नवां न बांधू कोय।*
श्री गुरुदेव प्रसाद से, सफल मनोरथ होय ॥१॥

मूलार्थ—मैं कृत-पहले किए हुए अर्थात् पिछले पाप से मुक्त हो जाऊँ, भविष्य-आगे नवीन कर्मों का संचय न करूं, हे गुरुदेव आपके अनुग्रह से मेरे मन का यह मनोरथ सफल-पूर्ण होगा अथवा होवे।

टिप्पणी : कृत कर्म से मुक्त होने का उपाय पूर्व पद में आ चुका है। आगम में "तवसा पुराण पावगं झुसइ" कहा है अर्थात् पुरातन-पिछले पापों का नाश तपस्या करती है। चारित्र नवीन कर्म का निरोधक है। कवि पूर्वकृत पाप से मुक्त तथा नवीन कर्म के आगमन का निरोध करना चाहता है। किन्तु इसके लिए गुरु-कृपा को निमित्त मानता है।

तीन मनोरथ :

परिग्रह ममता तजी करी, पंच महाव्रत धार।
अंत समय आलोयण, करूं संथारो सार ॥२॥

मूलार्थ—पदार्थ और उसकी ममता-आसक्ति का त्याग करके अहिंसादि पांच महाव्रत को धारण करूं अर्थात् सर्व विरति-साधु बनूं तथा अन्तिम समय-जीवन के अन्त में आलोचना आदि करके संथारा-अन्तःमरण समाधि जो सार रूप है ग्रहण करूं।

टिप्पणी : परिग्रह के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। अन्तः

---

* अन्य प्रति में पंवित (पादों) में व्युत्क्रम हैं, नीचे का पाद ऊपर है।

परिग्रह, बाह्य परिग्रह। द्रव्य से अभिप्राय पदार्थ से है तथा भाव का अर्थ है उस पदार्थ के प्रति मन की ममता, मूर्च्छा आसक्ति आदि। यही क्रमशः आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह हैं। पदार्थ की अपेक्षा अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल, सचित्त, अचित्त आदि दो भेद हैं। इनका यथाशक्य त्याग का अभ्यास करते हुए सर्वथा परित्याग का मन में चिन्तन करना श्रावक का पहला मनोरथ है- "वह दिन मेरे लिए धन्य होगा, जब मैं आभ्यन्तर, बाह्य, अल्प, बहुत परिग्रह से मुक्त होऊँगा"।

पाँच महाव्रत : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह इन्हें पूर्ण रूप से ग्रहण और पालन करना महाव्रत है। अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह इन प्रसिद्ध पांच पापों का मन, वचन और काया से आचरण करने, करवाने तथा करने वाले को भला मानने का त्याग करना और अहिंसा आदि उक्त पांचों का धारण महाव्रत है। या अणुव्रत से जो महा-बड़े व्रत हैं वे महाव्रत हैं। ये व्रत साधु के हैं। गृहस्थ के अणुव्रत होते हैं। वह सर्वथा अहिंसक आदि नहीं बनता क्योंकि वह संसार में रहता है और अपने दायित्व पालन करता है। व्रत का अर्थ है विरति अर्थात् विरक्त-अलग, उपरत होना।

यह श्रावक का दूसरा मनोरथ है। अणुव्रत की साधना करते हुए महाव्रत की साधना के लिए प्रयत्नशील रहना—"वह दिन मेरे लिए धन्य होगा जिस दिन मैं आगार से अणगार बन जाऊँगा।"

संथारा : संस्तार का अर्थ शय्या है। दर्भ आदि घास पर सोये हुए-समाधिपूर्वक मरण ही संथारा है। इसमें क्रोध आदि कषाय का शोषण, वासना का परिहार अशन, भोजनादि, वसन तथा भवनादि की ममता का परिहर, हिंसा, झूठ आदि पापों का सर्वथा मन आदि से त्याग रहता है। इसे पंडित मरण, संलेखना, समा-

धिमरण आदि नामों से पुकारा जाता है।

तीन मनोरथ ए कह्या, जो ध्यावे नित मन्न।
शक्ति सार वर्ते सही, पावे शिव सुख धन्न ॥३।

मूलार्थ—ये तीन मनोरथ कहे गये हैं, इन्हें जो नित्य शुद्ध भाव, मन से ध्यायेगा मन में चिन्तन करे तथा अपनी शक्ति के अनुसार (यथा शक्य) सम्यग् अभ्यास किया जाय तो जीव-आत्मा, कल्याण, सुख रूप धन को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी : उक्त तीन मनोरथ जीवन को आदर्श, निर्मल एवं कर्म-मल रहित करने में साधना रूप हैं। यह मात्र भविष्य की कोरी कल्पना ही नहीं है। आगम में इनका मन से चिन्तन, वचन से परावर्तन तथा काया से अभ्यास करने का उल्लेख है।

प्रात:काल सूर्योदय से पूर्व धर्म जागरण की वेला है। उस समय उक्त मनोरथों का चिन्तन किया जाता है।*

धर्म का मर्म (सम्यग्दर्शन) :

अरिहंत देव निर्ग्रन्थ गुरु, संवर निर्जरा धर्म।
केवलि भाषित शास्त्र है, यही जैन मत मर्म* ॥४॥

मूलार्थ—अरिहंत देव हैं, निर्ग्रन्थ—बिना गांठ वाले गुरु हैं, संवर—हिंसादि आश्रव-निरोध तथा कर्म मल का अंश रूप में दूर होते रहना आत्म-विशुद्धि धर्म है और केवल-ज्ञानी, सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित तत्व ही शास्त्र है यही जिन-धर्म का रहस्य है।

टिप्पणी : जैन धर्म में देव, गुरु, धर्म और शास्त्र की व्याख्या और मान्यता यथार्थ एवं आदर्श पूर्ण है। यहां अरिहंत—जो जीवन मुक्त है, राग-द्वेष से सर्वथा रहित हैं अर्थात् कर्म रूप शत्रुओं का हनन—कर दिया है वे आत्माएं देव हैं। देव, जीवन

* मनोरथों के विस्तृतज्ञान के लिए अनुवादक द्वारा लिखित 'श्रावक-कर्त्तव्य' पुस्तक देखें। जैन धर्म का मर्म क प्रति

का आदर्श होता है, उसमें अर्हद् भाव मुख्य है। देव उपास्य होता है व्यक्ति उसकी उपासना करके अपने को पूर्ण बनाना चाहता है यदि देव में जीवन की पूर्णता नहीं है तो वह आदर्श नहीं हो सकता। राग-द्वेष के सद्भाव में जीवन के समूल दोषों का उन्मूलन नहीं हो पाता एवं स्थायी सुख एवं शांति की अनुभूति नहीं होती अतएव अरिहंत को ही देव कहा गया है।

निर्ग्रन्थ : "निर्गतो ग्रन्थाद् स निर्ग्रन्थः के" अनुसार जो गांठ से निकल गया है, गांठ से अभिप्राय यहां राग-द्वेष से हैं। यह भयंकर गांठ है। जिसमें संसार के प्राणी बंधे रहते हैं। इससे जो निकल गया अथवा इसे खोल कर ढ़ीला कर दिया है जिसने वह निर्ग्रन्थ है। जैन धर्म ने ऐसे पुरुष को गुरु पद पर माना है।

धर्म : धर्म का अर्थ है जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को जो धारण करे। आत्म विशुद्धि और उसकी क्रिया धर्म तथा आत्म-मलिनता एवं उसकी क्रिया अधर्म है। क्योंकि अधर्म क्रिया से आत्मा मलिन होती है और अन्य को भी पीड़ित करता है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह इनका आचरण अधर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह ही धर्म हैं। हिंसादि पहले पांच आश्रव हैं और अहिंसादि संवर हैं।

संवर और निर्जरा को धर्म कहा गया है उक्त पद्य में। संवर का अर्थ है आत्मा का संवरण—ढांपना, जिससे कर्म मल न आ सके। कर्म मल आने को आश्रव कहते हैं। हिंसादि पांच क्रियाएं, पांच इन्द्रियों का अनियमित रहना क्रोधादि कषाय की प्रवृत्ति, मन आदि तीन का अशुभ प्रवृत्त होना आदि आश्रव एवं इनका निरोध संवर है। नवीन कर्म मल के आगमन का निरोध संवर तथा पुरातन कर्म मल का दूर होते रहना निर्जरा है यानि कर्म का जीर्ण होकर निर्जीर्ण-अलग होना निर्जरा है। ये दोनों आत्म-शुद्धि के प्रतीक एवं कारण होने से धर्म हैं।

शास्त्र : केवल ज्ञान के धर्त्ता, सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित भाव-तत्त्व ही जिन्हें गणधर शब्द रूप में गूंथते हैं वही शास्त्र है। अल्पज्ञ द्वारा कथित तत्त्व प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

आरम्भ-विषय-कषाय तज, शुद्ध समकित व्रत धार।
जिन आज्ञा प्रमाण कर, निश्चय खेवो पार ॥५॥

मूलार्थ—हिंसा, शब्दादि विषय, क्रोध आदि कषाय, का त्याग कर, शुद्ध—निरतिचार सम्यक्त्व व्रत को ग्रहण करके वीत-राग देव की आज्ञा—प्रतिपादित धर्म को प्रमाण मान कर पालन करो (तो) निश्चित ही कल्याण है।

टिप्पणी : सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग् चारित्र्य ही मुक्ति का मार्ग है। आरम्भ, विषय और कषाय का परित्याग ही चारित्र है। यथार्थ तत्त्वरुचि ही सम्यग्दर्शन है, जिनाज्ञा ही प्रमाण ज्ञान है।

आत्म-परमात्म अंग

आत्मोद्बोधन :

श्री गुरु कृपा कटाक्ष तें, अनुभव होय प्रकाश ।*
रवि कर ऊगत तुरत ही, तम को होत विनाश ।।१।।

मूलार्थ—गुरुदेव की अनुग्रह-दृष्टि से आत्मा में अनुभव का प्रकाश होता है । जिस प्रकार सूर्य-किरणों के उदित होते ही अंधकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार गुरु कृपा से मनुष्य का अज्ञान, मोह दूर होता है तथा अनुभव-प्रकाश प्राप्त होता है ।

टिप्पणी : गुरु शरण में रह उनकी आज्ञा का पालन करते रहने से आत्म-साधना बलवति होती है, वह अशुभ से शुभ और उससे शुद्ध अवस्था में प्रवेश करती है । यह साधना की स्थिति आत्मानुभव दशा कहलाती है । इसमें आत्मा और परमात्मा, का अभेद सम्बन्ध तथा जीव और सिद्ध का वास्तविक स्वरूप, जड़ और चेतन के भेद की अनुभूति होती है । यह प्रकाश है एक प्रकार का । आत्मा में जब यह अनुभव-प्रकाश जागृत हो जाता है तो स्व-रूप, पर-रूप का भान होने से जीव पद-भ्रष्ट नहीं होता और उसे अपने पतन की, उत्थान की प्रतीति होने लगती है । यही इस अंग में बतलाया गया है ।

अनुभव का अर्थ आत्म–उपलब्धि, स्व-प्रतीति और यह शाब्दिक नहीं, भावात्मक होती है । अनुभूति हो जाने पर शब्द, प्रमाणज्ञान आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती । अनुभव

---

* क प्रति में यह पद नहीं है

या अनुभूति पठन या श्रवण के वाद होने वाला तत्त्व का भाव-ज्ञान है।

खिण निकमो रहणो* नहीं, करनो* आतम-काम।
भणनो* गुणनो सीखनो, रमणो ज्ञान आराम।२॥

मूलार्थ—क्षण भर विना काम (खाली) नहीं रहना चाहिए, आत्म-कार्य-आत्म-धर्म के अनुकूल प्रवृत्ति करते रहो—पढ़ना, परावर्तन करना तथा सीखना—नवीन पाठ—शिक्षा ग्रहण करना, इस तरह ज्ञान रूप उद्यान में रमण करना चाहिए।

टिप्पणी : मनुष्य के लिए निकम्मा—खाली रहना अभि-शाप है। इस अवस्था में वह व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों में उलझ जाता है, उससे कर्म-बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सफलता हाथ नहीं लगती। अतएव मनुष्य को प्रति समय क्रिया या कार्य संलग्न रहना चाहिए। अध्यात्मक दृष्टि से ज्ञान—स्वाध्याय से मन को रंजित करने का संकेत दिया है, क्योंकि ज्ञान आत्मा निज गुण है। इससे मन के असद् संकल्प, कर्म तथा जटिल समस्या आदि सबका समाधान प्राप्त होता है।

मंगलादिचतुष्क :

अरिहंत सिद्ध सब साधुजी, जिन आज्ञा धर्म सार।१
मंगलीक उत्तम सदा, निश्चय शरणा चार।३॥

मूलार्थ—अरिहंत देव, सिद्ध प्रभु, सर्व साधु तथा जिनदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्व धर्म, ये चार सदा मांगलिक, उत्तम एवं निश्चित शरण रूप हैं।

टिप्पणी : ये अरिहंत आदि चार अमंगल-विघ्न के नाशक तथा ज्ञान प्रदाता होने से मंगल हैं। परम ज्ञान, दर्शन, चारित्र,

---

* 'नो' ण और न के स्थान पर ख प्रति के इस पद में 'व' का प्रयोग है।

१ ख प्रति में यह नहीं है,

सुख एवं जीवन की श्रेष्ठता के कारण उत्तम हैं क्योंकि इनसे अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है, तथा इनके स्मरण और नमस्कार करने से दुःख दूर हो जाते हैं, प्राणी जीवन में सुख, सौभाग्य को प्राप्त करता है अतः ये शरण हैं। आगम में भी इन्हें चार मंगल, चार उत्तम, तथा चार शरण कहा है।*

जीव-कर्म :

छन्द : दोहा

सिद्धां जैसा जीव है, जीव सोइ सिद्ध होय।
कर्म मैल का अंतरा, बूझे बिरला कोय ॥४।

मूलार्थ—जीव सिद्ध-कर्म मुक्त परमात्मा के समान हैं, जीव वही जो सिद्ध होता है अथवा जीव ही सिद्ध-कर्म—मुक्त होता है, (क्योंकि जीव और सिद्ध में) कर्म रूप मैल का ही अन्तर है और इसे कोई विरला मनुष्य ही जान पाता है।

टिप्पणी : कवि ने उपर्युक्त पद द्वारा जैन दर्शन के जीव और सिद्ध के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है।

सिद्ध का अर्थ है सर्व कर्म विमुक्त आत्मा। जिन्होंने आत्म-सिद्धि—स्वात्मोपलब्धि प्राप्त कर ली है वें जीव ही सिद्ध, अकल परमात्मा कहलाते हैं। सिद्धावस्था जीव की परमावस्था है। संसार में दो प्रकार के जीव हैं—कर्म बद्ध एवं कर्म मुक्त। इसमें पहला संसारी जीव तो दूसरा सिद्ध। मूलतः सिद्ध और जीव में कोई अन्तर नहीं है मात्र कर्म—अविद्या, माया, अज्ञान का ही अन्तर है। जीव में स्वयं सिद्ध होने की शक्ति है, सिद्धत्व-भव्यत्व उसका परिणामिक भाव है। जीव का सामान्य लक्षण चेतना है विशेष उपयोग—ज्ञान तथा दर्शन है। किन्तु कर्म आव-

* चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगल, केवली पण्णत्तो धम्मो मंगल, चत्तारि लोगुत्तमा;, चत्तारि सरणपव्वजामि [आव०]

रण से ये शक्तियां-स्वभाव आवृत्त हो जाती हैं ढंप जाती हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश को बादल आकर ढांप देते हैं। इनके दूर हो जाने पर सूर्य का विराट् प्रकाश धरती पर प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार कर्मावरण के हटने से आत्मा-जीव की अनन्त ज्योति भी प्रकट हो जाती है। अतएव सिद्ध एवं जीव में कोई मौलिक भेद नहीं है।

दूसरी बात, सिद्ध और जीव में गुण, स्वभाव की अपेक्षा एकत्व पाया जाता है। 'अप्पा सो परमप्पा' के अनुसार आत्मा ही परमात्मा है। सिद्ध का जीव अंश नहीं अपितु वह अखण्ड है, उसके समान ज्ञानादि गुण वाला है। अतः दोनों का अभेद सम्बन्ध है। द्रव्य दृष्टि से भिन्न, गुण-भाव दृष्टि से एक—अभिन्न हैं।

कर्म-जीव :

कर्म पुद्गल रूप हैं, जीव रूप है ज्ञान।
दो मिलकर बहुरूप हैं, विछड्यां पद निर्वाण ॥५॥

मूलार्थ—कर्म पुद्गल-जड़ रूप हैं अर्थात् कर्म का स्वरूप जड़ है और जीव ज्ञान रूप है, ये दोनों-जीव और कर्म मिल कर अनेक रूप वाले हो जाते हैं, किन्तु जब ये भिन्न होजाते हैं तो निर्वाण पद की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् जीव मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी : कर्म क्या है इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कवि ने कहा है कि कर्म पुद्गल रूप है। पुद्गल जड़ है और कर्म जड़ का एक भेद है क्योंकि जड़-अजीव दो प्रकार है—रूपी-अरूपी (मूर्त्त-अमूर्त्त) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, और काल ये अरूपी जड़ है। पुद्गल रूपी-मूर्त्त अजीव द्रव्य है। क्योंकि इसमें वर्ण, गंध, रस तथा स्पर्श गुण हैं। धूप, छाया, शब्द, उद्योत (प्रकाश) अंधेरा आदि इसके पर्याय हैं।

पुद्गल का अर्थ है—पूरण और गलन। यह दो शब्दों के

मेल से बनता है—पुद्+गल । इसका अभिप्राय यह कि बनना और बिगड़ना। पुद्गल के चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। पुद्गल स्कन्ध अवयव प्रचय होता है अतः कोई स्कन्ध सूक्ष्म तो कोई बादर-स्थूल होते हैं। बादर स्कन्ध इन्द्रियगम्य होते हैं सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो पाते।

पुद्गल सत्ता की दृष्टि से एक ही प्रकार का है किन्तु अवस्था आदि भेद छह प्रकार का है—

१. बादर-बादर स्कन्ध : जो टूट कर जुड़ न सके, लकड़ी, पत्थर आदि।

२. बादर स्कन्ध : प्रवाही पुद्गल जो टूट कर गिर जाते हैं, जल, पारा आदि।

३. सूक्ष्म-बादर : जो देखने में स्थूल किन्तु अकाट्य हो, जैसे धूप, प्रकाश।

४. बादर-सूक्ष्म : सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रिय गम्य हो, जैसे रस, गंध, स्पर्श आदि।

५. सूक्ष्म : इन्द्रियों से अगोचर स्कन्ध, यथा—कर्म वर्गणा आदि।

६. सूक्ष्म-सूक्ष्म—अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध, जैसे—कर्म वर्गणा से नीचे के द्वयणुक पर्यन्त पुद्गल।

इनमें से पांचवी प्रकार का जो इन्द्रियों से अगोचर सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध है वह अनन्त-अनन्त परमाणुओं से निर्मित है, तथा कर्म रूप में परिणित होने की शक्ति रखता है अतः इसे कार्मण वर्गणा कहते हैं। यह Matter सम्पूर्ण लोकाकाश-प्रदेश में व्याप्त है और आत्मा भी इन्ही प्रदेशों में रहता है अतः आत्म-प्रदेशों में मन-वचन-काय के सहयोग से जब परिस्पंदन होता है तो तत्क्षण ही वह आत्म—प्रदेशों पर आकर जमा हो जाता है।

यही बन्ध का स्वरूप है। इन समय में इन कर्मों में चार बातें नियत होती हैं—स्वभाव, कालमर्यादा, परिमाण (तादाद) रस की ततमता। इसी के आधार पर बन्ध चार प्रकार हैं, प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग।

जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर पर तेल लगाकर धूलि में लेटे, तो धूलि उसके शरीर पर चिपक जाती है। उसी प्रकार मिथ्यात्व कषाय, योग आदि से जीव के प्रदेशों में जब हल-चल होती है तब जिस आकाश में आत्मा के प्रदेश हैं वहीं के अनन्त-अनन्त कर्म योग्य पुद्गल-परमाणु जीव के एक-एक प्रदेश के साथ बंध जाते हैं। कर्म और आत्म-प्रदेश इस प्रकार मिल जाते हैं जैसे दूध और पानी तथा आग और लोह पिण्ड परस्पर एक होकर मिल जाते हैं। आत्मा के साथ कर्मों का यह जो सम्बन्ध होता है, वही बन्ध कहलाता है।

जब जीव और पुद्गल इस प्रकार मिल जाते हैं तो 'बहुरूप' अनेक रूप वाले हो जाते हैं। यहां बहु या अनेक का अर्थ है जीव नाना पर्यायों में परिभ्रमण करता है। इन्हें प्राप्त करता है और कर्म पुद्गल भी नवीन २ कर्म पुद्गलों को ग्रहण करते रहते हैं। किन्तु जीव या पुद्गल एक के अनेक नहीं हो जाते हैं बल्कि जीव और कर्म-पुद्गल दोनों का मिलन सम्बन्ध ही अनेक अथवा बहु अवस्था को जन्म देता है। सुख-दुःख, स्थूल, सूक्ष्म, मनुष्यगति, नरक भव, तिर्यञ्च भव, आदि ये सब जीव से संलग्न कर्म-पुद्गल के फल— परिणाम हैं।

ही निर्वाण, मोक्ष आदि कहा गया है।* आगम में राग और द्वेष को कर्म बीज, कर्म से जन्म मरण तथा दुःख उत्पन्न होता एवं कर्म बंध का हेतु अध्यवसाय (मिथ्यात्वादि) है और बंध संसार का कारण है उल्लेख है।

जीव कर्म भिन्न भिन्न करो,[1] मनुष्य जनम कुं पाय।
ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज ध्यान[2] जगाय ॥३॥

मूलार्थ—मनुष्य जीवन पाकर जीव और कर्म (ब्रह्म तथा माया) को जो कि सम्बद्ध हैं, संलग्न है—एक साथ हैं उन्हें अलग करो (कीजिए) और अपने ज्ञानातम को वैराग्य, धैर्य तथा ध्यान-से जागृत करो।

टिप्पणी : जीव और कर्म-पुद्गलों—परमाणुओं का परस्पर दूध-क्षीर, अग्नि-लोह का सा सम्बन्ध या सामीप्य है। जब यह रहेगा तब तक आत्मा-अनात्मा, चेतन-जड़ भिन्न नहीं होंगे, तथा भिन्नता के अभाव में निज स्वरूप, गुण का भान अथवा प्राप्ति नहीं होगी, अतएव जीव-कर्म का अलग होना अनिवार्य है। आगम में कर्म जन्म-मरण का मूल और उस (कर्म) का बीज राग-द्वेष कहा गया है।

आत्म-गुण ज्ञान और सुख है तो कर्म जड़ है, पुद्गल है तो उसका धर्म पूरण और गलन है।

यह दूरीकरण-क्रिया या आत्म-स्वभाव में आने का उप-क्रम मनुष्य जीवन में ही अधिक संभव है। यहां शक्तियां एवं साधना का अवसर है। उसके उपाय हैं 'विराग' विषयों से विरक्ति, उपरति, उदासीन होना, 'धीरज' इन्द्रिय-विषय में बने चंचल मन, एवं इन्द्रियों के चांचल्य को शांत रखना तथा 'ध्यान—'मन की

---

* कृत्सनः कर्म क्षयो मोक्षः [तत्वार्थसूत्र] उत्त० अ० ३२. ११.

[1] 'भिन भिन करे' ख प्रति, [2] लगाय ख प्रति में

धाराओं को, चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करने के लिए गुण, शब्द अथवा पदार्थ स्वरूप चिन्तन करना। इससे आत्म-ज्ञान जाग्रत होगा, भेद विज्ञान होगा कि मैं चेतन हूं शरीर-कर्म आदि जड़ हैं, 'स्व-स्वभाव' पर स्वभाव की प्रतीति होगी कि बस, जीव और कर्म के अलग होने में प्रयत्न हुआ।

जीव-स्वरूप :

> द्रव्य थकी जीव एक है, क्षेत्र असंख्य प्रमाण* ।
> काल थकी सर्वदा रहे, भावे दर्शन ज्ञान ।।४।।

मूलार्थ—द्रव्य (दृष्टि) से जीव एक है, क्षेत्र से, असंख्य प्रदेश परिमाण, काल से सदा काल अवस्थित रहने वाला, भाव (दृष्टि) से दर्शन और ज्ञान स्वभाव वाला है।

टिप्पणी : जैन दर्शन में वस्तु—पदार्थ को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव दृष्टि से निरूपित किया है। इससे पदार्थ का स्वरूप ज्ञान जानने में सरलता रहती है। जीव द्रव्य दृष्टि से एक अखंड पदार्थ हैं, क्षेत्र अवगाहन की अपेक्षा असंख्याता प्रदेशी है, अर्थात जीव पदार्थ असंख्येय आकाश प्रदेश का अवगाहन करता है। जीव संकोचन-प्रसारण स्वभाव वाला है, वह सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म, स्थूल शरीर में स्थूल होजाता है। जघन्य शरीर व्यापी और उत्कृष्ट लोक व्यापी है। असंख्येय प्रदेशी बुद्धि जन्य है, वह क्षेत्र—आकाश प्रदेश की अपेक्षा है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ आकाश प्रतिष्ठित होता है। बिना आकाश के वह किस ओर कहां स्थित रहता है अतः जीव कितने आकाश प्रदेशों पर स्थित है—अवगाहित करता है? असंख्येय (यात)। इस दृष्टि से जीव असंख्यात प्रदेशी है। आकाश प्रदेशों का आरोप है।

प्रदेश का अर्थ है स्कन्ध का वह अतिसूक्ष्म विभाग जो अवि-

---

*'प्रदेश, शेष' ख प्रति

भाज्य—बांटा न जा सके और स्कन्ध से संलग्न–साथ लगा हुआ है।

काल दृष्टि से जीव शाश्वत, अमर ध्रुव, है यानि पहले था, अब अब है आगे भी रहेगा। सद्भाव पदार्थ है। भाव से–भाव का आन्तरिक स्वरूप, गुण, धर्म। जीव उपयोग—ज्ञान, दर्शन गुण वाला है। यानि ज्ञाता जानने वाला है, जानने, ज्ञान करने, संवेदन करने में कारण शक्ति ज्ञान है। एक जैन मनीषि ने संक्षेप में जीव का निश्चय-व्यवहार दृष्टि से सर्वांगीण स्वरूप निरूपण किया है कि जीव उपयोगमय, अमूर्त्त, कर्त्ता, देह-परिमाण, भोक्ता संसारस्थ है, सिद्ध है, ऊर्ध्व गति वाला है।*

भव-भ्रमण :

गर्भित पुद्गल पिण्ड में, अलख अरमूति देव।
फिरे सहज भव चक्र में, यह अनादि की टेव। ५।।

मूलार्थ—उक्त स्वरूप वाला जीव—पुद्गल-पिंड—औदारिक शरीर में अवस्थित, छुपा, बंधा है, जो अलक्ष, अमूर्त्त देव है। जन्म-मरण के चक्र में सहज ही घूमता रहा है और यह उसकी अनादि की आदत है स्वभाव बन गया है। अर्थात् यह अलक्ष, अमूर्त्त देव—जीव शरीर में जो पुद्गल निर्मित है, छुपा है और अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है।

टिप्पणी : देह-स्थित देव–आत्मा अलक्ष और अमूर्त्त है किन्तु एक पुद्गल-पिंड—शरीर योग्य पुद्गल, अणुओं से संगठित है उसमें गर्भित है। वह पुद्गल–पिण्ड—शरीर तो मूर्त्त है, लक्ष है किन्तु शरीर का स्वामी आत्मा है वह मूर्त्त नहीं है। मूर्त्त होता होता तो अलक्ष न रहता। अमूर्त्त, अलक्ष होता हुआ भी देह

---

* जीवो उवओगमओ अमुत्ति, कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धे सो विस्स सोड्ढगई।।—।]

धारण देह विसर्जन क्रिया के कारण ही भव-भ्रमण कर रहा है। इसी आधार पर जीव के दो भेद हैं, वद्ध और मुक्त।

अलक्ष—का अर्थ है जो लक्ष में, पहिचान, चिन्ह में न आये अर्थात् जिसका प्रत्यक्षीकरण न हो।

अमूर्त्त—का अभिप्राय है अरूपी। जिसका रूप आदि न हो वह अमूर्त्त है। मूर्त्तिमान् शरीर आदि और अमूर्त्तिमान्-अमूर्त्त आत्मा। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श गुण है वह रूपी, मूर्त्त है क्योंकि वह इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। जिसमें ये वर्णादि न पाये जायं वह अमूर्त्त है। आगम में आत्मा इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं माना है, वह इन्द्रियातीत है। इसीलिए वह नित्य है[1]। क्योंकि वर्ण आदि काल के व्यतीत होने के साथ हीन अवस्था को प्राप्त होते रहते हैं। अमूर्त्त में नहीं, मूर्त्त के विना उसका लक्ष किस प्रकार हो।

भव-भ्रमण कारण :

फूल अतर घी दूध में, तिल में तेल छिपाय।
यूं चेतन जड़ कर्म संग, वंध्यो ममत दुख पाय ॥६॥

मूलार्थ - फूल में अतर, दूध में घी, और तिल में जिस प्रकार तैल छुपा रहता है उसी प्रकार चेतन्य—आत्मा, जीव, जड़—कर्म पुद्गल के साथ (वंधा हुआ) है तथा ममता-वन्धन से वंधा दुख का अनुभव कर रहा है।[2]

टिप्पणी : जीव का अज्ञान और विपर्यास—उलटी दृष्टि तथा संसार—भ्रमण का मूल कारण जड़—कर्म-पुद्गल का संयोग सम्वन्ध है। कर्म के संसर्ग से ही यह विभाव परिणति है। यह संसर्ग अनादि-अंत है। (अनादि सान्त) ठीक उसी प्रकार का है जैसे फ़ूल में अत्तर, दूध में घी, तिल में तैल। इनमें ये तत्त्व

---

[1] नोइन्द्रिय गेज्झ

[2] ख प्रति में यह पद नहीं है।

अनादि से—सदा काल से हैं किन्तु फूल से अतर, दूध से घी, तिल से तैल पीड़न, मथन आदि क्रिया से अलग भी हो जाता है अथवा समय पाकर स्वयं भी। इस प्रकार इनका अंत होता है। तात्पर्य यह कि अतर आदि की फूलादि में व्याप्ति अनादि से है किन्तु अन्त सहित है। इसी प्रकार जीव के साथ कर्म-संग-सम्बन्ध अनादि-अन्त है। इस कर्म-प्रभाव से ही जीव पदार्थ ममत्व आदि में बंधा हुआ दुःख अनुभव कर रहा है। यदि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि-अनन्त मान लिया जाय तो जीव का पूर्णतः आवरण, अज्ञान, मिथ्या-परणति से रहित होना असंभव हो जाएगा। अतएव जीव और कर्म का संयोग-सम्बन्ध औपधिक ही है नित्य नहीं।

सोना खनिज पदार्थ है। वह जब खान से निकलता है तो मिट्टी से युक्त होता है, यह मिट्टी पहले से ही है किन्तु निकलने के बाद वह सोने से दूर की जाती है और वह हो जाती है। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध है।

कर्म-वृद्धि कारण :

जो जो पुद्गल की दशा, ते निज माने हंस।
याही भरम विभाव ते, वढ़ै कर्म को वंस ॥६॥

मूलार्थ—पुद्गल–जड़, कर्म आदि के जितने पर्याय परिणाम हैं, रूप हैं उनको जीव अपना (स्वभाव आदि) मानता है, यही भ्रम, अज्ञान है और इसी विभाव (पर-स्वभाव) के कारण कर्म का वंश बढ़ता है अर्थात् कर्म-परम्परा या संतति में वृद्धि होती है, कर्म वन्ध होता है।

टिप्पणी : पुद्गल की अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता है उसके अनेक पर्याय और परिणाम हैं। जैसे कि वर्ण परि गन्ध परिणाम, रस परिणाम, स्पर्श परिणाम आदि दश

दुख का अनुभव और पापात्मा अधर्माचरण–पाप करते हुए सुख भोगते हुए दृष्टिगोचर होते हैं." इसका कारण उपर्युक्त ही है। कर्म दृष्टि से कि उनके द्वारा किए जाने वाला अशुभ कर्म अभी फल प्रदायक नहीं, पूर्व पुण्य-कर्म फल दायक हो रहा है। किन्तु उस अशुभ फल को कालान्तर में अनुभव करना होगा ही, इसमें संदेह नहीं करना चाहिए तथा उनके पाप—कार्यों का अनुकरण नहीं करना चाहिए।

गुण-गाहक :

अवगुण उर धरिये नहीं, जो हो वृक्ष बंबूल।
गुण लीजे[1] कालू कहै, नहीं छांह में सूल ॥२१॥

मूलार्थ—अवगुण - निकृष्ट गुणों का हृदय में धारण नहीं करना चाहिए चाहे शूलों भरा बबूल का पेड़ ही क्यों न हो। 'कालू' कहता है उसमें से भी गुण—छाया आदि लेना चाहिए क्योंकि उसमें – (छाया) तो शूल नहीं है।

टिप्पणी : गुण का अर्थ है स्वभाव तथा जीवनोन्नायक भाव। अवगुण यानि पर–गुण या विभाव जिनसे जीवन का पतन होता हो। मनुष्य की दृष्टि गुण की गाहक होनी चाहिए, अवगुण–दोष ग्राही नहीं। दोष-दृष्टि से दोषों-अवगुणों पर ही नजर जाएगी, गुण तो ओझल ही रह जायेंगे। अवगुण–दृष्टि से दो हानियां हैं—एक तो अवगुण का ही अवलोकन और संग्रह तथा दूसरा उनका जीवन में आचरण। "यादृशी दृष्टि तादृशी सृष्टि" के अनुसार जीवन धीरे २ अवगुणमय ही बन जाता है। आगम में ऐसे व्यक्ति को शूकर (सूअर) को उपमित किया है जैसे सूअर धान्य-कुण्ड को छोड़कर विष्टा ढ़ेर पर जाता है इसी प्रकार दोष दृष्टि मानव गुण न देखकर अवगुण ही देखता है।[2] उसका आदर-

[1] 'कहां लग कहे' क प्रति

[2] 'कण कुण्डगं चइत्ताणविट्ठं भुंजइ सूयरे,' जहा सूइ पूइकण्णी निक्कसिज्जइ सव्व सो।

सम्मान नष्ट हो जाता है, वह रुधिर–पीव कान वाली कुत्तिया की तरह सर्व-स्थानों से बहिष्कार के योग्य हो जाता है।

अवगुण-ग्रहण-दोष दृष्टि का मुख्य कारण अज्ञान और द्वेष हैं। द्वेष-बुद्धि होने से गुणी में भी गुण न दिखाई देकर अवगुण दिखाई देते हैं तथा राग-बुद्धि में दोष न देखकर जीव गुण देखता है। किन्तु मनुष्य को इससे ऊपर उठकर विशाल दृष्टि से अवगुण-दोष को छोड़कर गुण ही देखना चाहिए। गुण-दृष्टि से व्यक्ति आदर्श का आलम्बन ले गुणों की सृष्टि करता हुआ स्वयं के साथ अन्यों में भी गुण का सम्पादन करने वाला होता है।

जैसी जापर वस्तु है, वैसी देय दिखाय।
तिसका बुरा न मानिए, 'वह' लेन कहां से जाय ॥२२॥

मूलार्थ—जिसके पास जैसी वस्तु है वह वैसी दिखा देता है, उसका बुरा नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह अन्य कहां से लाये, लाने जाए।

टिप्पणी : धरती पर रहा पदार्थ जड़ या चेतन अपने मूल स्वभाव के साथ रहता है कभी २ वह दूसरे के स्वभाव को ग्रहण कर लेता है, या प्रभावित होकर विकृत हो जाता है, दुःस्वभाव वाला बन जाता है। स्व-स्वभाव, गुण में होने पर भी एक व्यक्ति को वह प्रिय दूसरे को अप्रिय लगता है। ये दोनों अवस्थाएं पदार्थ की हैं इसमें अपेक्षा से एक बुरी-दूसरी अच्छी प्रतीत होती है। बुरी पर क्रोध, द्वेष किया जाय और अच्छी पर प्रसन्नता तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि वह वस्तु का धर्म या गुण हुआ। इसमें बुरा आदि मानना निरर्थक होगा। व्यक्ति विचार करे कि सज्जन के पास सज्जनता, और दुर्जन के पास दुर्जनता है और वह वैसा ही प्रयोग करेगा अथवा फूल में सुगन्धि और मल में दुर्गन्धि इन दोनों के गुण हैं अतः उनके पास आने पर ये ही (सुगन्ध-दुर्गन्धि)

प्राप्त होंगे, फिर बुरा क्यों माना जाय ? अपने को ही समझाया जाय तो ठीक समता भाव आ सकेगा ।

ग़रीब दास संसार में लोग कहें क्यों ही ।[1]
हँसि के उत्तर दीजिए, हां बाबा यों ही ॥२३॥

मूलार्थ—गरीब दास कहते हैं संसार में यदि आदमी पूछें, कहें कि "क्यों ? कैसा है ? ठीक है," तो मुस्कराकर उत्तर दीजिएगा कि "हां बाबा, ऐसा ही है ।" (जैसा तुम कहते हो)

टिप्पणी : संत गरीबदास ने विचित्र संसार की विचित्र स्थिति में अपने को बचा कर रखने का उपाय बताते हुए कहा कि अवसर-साधक बनो और जो जैसा कहे उसे उसके अनुकूल ही स्वीकारात्मक 'हाँ' का उत्तर दे दो। इससे विरोध, भय आदि दूर रहेगे । अन्यथा किसी पक्ष विशेष के स्वीकार कर लेने पर दुख ही उठाना पड़ेगा ।

'अवसर साधै सो ज्ञानी' के अनुसार व्यक्ति को नीति कुशल तो रहना चाहिए । बिना इसके जीवन निर्वाह कठिन हो जाता है । अभिप्राय यह कि जीवन में आग्रह, कठोरता पूर्ण उत्तर, विरोध, प्रतिशोध आदि का प्रयोग न कर प्रश्नकर्त्ता को नम्रता पूर्वक उत्तर देकर टाल देना चाहिए । इससे सुख-समाधि बनी रहेगी ।

[अवसर बीत्यो जात है, अपने बस कछु होत ।
पुण्य छतां पुण्य होत है, दीपक दीपक जोत ॥१॥

मूलार्थ—अवसर—कुछ कर लेने का बीत रहा है, अपने वश कुछ होता है तो करलो, पुण्य से पुण्य कर्म होता हे, जैसे दीपक ज्योति से अन्य दीपक की ज्योति प्रकट हो जाती है ।]

---

[1] यह पद क प्रति में नहीं है ।

[कल्प वृक्ष चिन्तामणि, इस भव में सुखकार।
ज्ञान वृद्धि इनसे अधिक, भव दुखभंजन हार ॥२॥

मूलार्थ—कल्प वृक्ष तथा चिन्तामणि रत्न व्यक्ति के लिए वर्तमान जन्म में सुखदायक हो सकते हैं किन्तु ज्ञान-वृद्धि (अभ्यास) इन दोनों से बढ़कर है, जो जन्म-मरण के दुख का नाश करने वाला है।]

टिप्पणी : वर्तना लक्षण वाला काल अपने निर्माण और संहार (नवीन-जीर्ण) स्वरूप से प्रत्येक वस्तु पर बरतता रहता है। यह प्रवाहमान है अतः बीतता रहता है। पूर्व पद "कुछ कर लेने की" बात कही गयी है और वह भी पुण्य से पुण्य की करने की प्रेरणा है। आगम में कर्म के चार भेद हैं—पुण्यानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पाप, पापानुबन्धी पुण्य और पापानुबन्धी पाप। पुण्य योग से पुण्य—शुभ कर्म-उपार्जन के साधन प्राप्त हैं अतः पुण्य कार्य कर ही लेना चाहिए। यदि पापोदय हो गया तो साधनों के अभाव में पश्चात्ताप-अनुताप के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। ज्योतिवान् दीपक से ही अन्य दीपक प्रज्ज्वलित होता है इसी प्रकार पुण्य से ही पुण्य होता है।

दूसरे पद में कल्प वृक्ष एवं चिन्तामणि जो मनोच्छित वस्तु के दायक होने से वर्तमान भव में सुखकर माने गये हैं और इच्छा भी पौद्गलिक ही, किन्तु जन्म-मरण, आशा-तृष्णा आदि दुखों का नाशक ज्ञान इनसे (दोनों) बढ़कर है। ज्ञान एक जन्म का नहीं जन्मान्तर का साथी है। आगम में ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्बन्धी प्रश्न है कि ज्ञान आदि इह भविक हैं अथवा उभय भविक हैं। भगवान महावीर ने ज्ञान-दर्शन को इह भविक पार भविक तथा उभय भाविक और चारित्र को इह भविक ही कहा है।

श्री गुरु के पद कंज कूं नम करि मन वच काय।[1]
कछु उपदेश सुमरि हूँ, जांसें भव मिट जाय ।।१।।

मूलार्थ— आत्म–गुण के धनी गुरुदेव के पद-पद्मों (चरण-कमलों) में मन से, वाणी से तथा शरीर से नमस्कार करके कुछ उपदेश का स्मरण करूं जिससे जन्म-मरण दूर हो जाय।

टिप्पणी : श्री चरणों में किया गया प्रणाम वाह्य एवं आन्तरिक अमंगल, वाधाओं का नाशक है, सुख-शांति का प्रदायक है। अप्रशस्त के नाश के दो कारण हैं—वंद्य का गुण युक्त होना, क्योंकि विना गुण के वंदन-क्रिया मन को प्रभावित नहीं कर पाती। दूसरा कारण है वंदनकर्त्ता श्रद्धा भाव से जब वंद्य के चरणों में नत होता हुआ उनकी गुण-प्रशंसा, स्तुति एवं उपासना करता है उस समय योगों की एकाग्रता आत्म-प्रदेशों पर रहे कर्म-पुद्‌गलों को झाड़ कर दूर कर देती है।

उक्त पद में नमन मन, वचन और काय द्वारा करने का उल्लेख है। मन में श्रद्धा व आदर भाव का जाग्रत होना, से वाणी गुणों, विशेषातओं का कथन करना, यानि स्तुति तथा काया-शरीर से झुक कर उनके चरणों स्पर्श करना, उपासना करना मन-वच-कायनमन है।

पद्य में तीसरी वात उपदेश–स्मरण की गही गई है। उपदेश के स्मरण का तात्पर्य महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट–कही गई शिक्षाओं

---

[1] यह पद क प्रति में नहीं है।

का मन से स्मरण चिन्तन, वाणी से उच्चारण—स्वाध्याय करना है। इसका फल "भव मिटि जाय" है। भव से अभिप्राय जन्म और मरण है। आगम में इसका फल अज्ञान का नाश बताया है। ज्ञानी गौतम तथा भगवान महावीर के प्रश्नोत्तरों में "स्वाध्याय से जीव को क्या फल मिलता है" से एक है।[1] स्वाध्याय के पांच भेद हैं–शिक्षाओं का वाचना, पूछना, चितारना (पुनः फेरना, दोहराना) सोचना तथा कार्य करना। इन पांचों प्रकारोंसे जीवको अज्ञान का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता है। ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से हेय का त्याग, त्याग से तप से कर्म जीर्ण होते हैं तथा निर्जरा होती है। स्वाध्याय स्वयं तप है और तप से प्राचीन पापों का नाश होता है। आगम में नवीन ज्ञान ग्रहण करते हुए यदि आत्मा को उत्कृष्ट रसायन (पूर्ण तल्लीनता और आनन्दानुभूति) आ जाए तो जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्मपर्यवों का अन्त कर देता है और तीर्थंकर गोत्र कर्म का बंध कर लेता है" ऐसा उल्लेख है।[2]

सुख दीयां सुख होत है, दुख दीयां दुख होय।
आप हणे नहि और कूं, आप हनै नहि कोय ॥२॥

मूलार्थ—दूसरे को सुख देने से अपने को सुख होता है तथा दुख देने से दुख ही होता है। यदि व्यक्ति अन्य को न मारे तो अपने को (उसे—नहीं मारने वाले को) कोई नहीं मारता है।

टिप्पणी: संसार का प्रत्येक प्राणी चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल सुख चाहता है क्योंकि वह उसके अनुकूल है, दुख सबके प्रतिकूल है। प्राणी के प्राणों का हनन न करने का आदेश देते हुए भगवान महावीर ने कहा "सब जीव जीना चाहते हैं, मारना नहीं, इसलिए निर्ग्रन्थ प्राणी-हिंसा वर्ज देवे।"[3]

[1] नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ [उत्त० २६] [2] ज्ञाता धर्मकथांग [ ]

[3] सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्ख-पडिकूला। अप्पिय वहा पियजीविणो, जीविउ-कामा सव्वेसिं जीवियं पियं। [आचारांग सूत्र]
"सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं" [दशवैकालिक]

सुख आत्मा की अनुकूल वेदना है, दुख प्रतिकूल वेदना। आगम में रस-अनुभूति का आधार मूल वेदनीय कर्म है। यह दो प्रकार का है—साता, असाता रूप। साता सुख रूप, असाता दुख रूप है। साता वेदनीय कर्म का उपार्जन जीव प्राणी-भूत-जीव और सत्व को दुख, शोक, झूराना, आंसू, विहनन, परिताप न देकर उन पर अनुकम्पा करने से करता है। तथा असाता वेदनीय उन्हें दुख, शोक, संताप, अश्रुपात करवाने, मारने, पीड़ा देने से बाँधा जाता है। यह दोनों प्रकार वेदनीय कर्म अनुकूल-प्रतिकूल साधन-सामग्री, वातावरण, परिस्थिति द्वारा जीव अनुभव करता है। इनमें से कुछ जन्म से तो कुछ बाहर से अच्छे-बुरे साधन प्राप्त होते हैं। यह सुख-दुख के संवेदन में निमित्त हैं, मूल में तो स्वोपार्जित वेदनीय कर्म ही है, क्योंकि बिना कर्म तथा निमित्त के आत्मानुभूति कैसे करे? साता में मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श तथा सुख रूप मन, वाणी और शरीर एवं असाता में ये आठों ही दुख-रूप अशुभ प्राप्त होते हैं और जीव दुखानुभूति करता है।

उक्त प्रस्तुत पद्य में सुख देना सुख का कारण और हनन आदि कार्य दुःख का कारण है। दुख देने में क्रोधादि बुरे भाव तो सुख देने में आत्मानुभूति, अनुकम्पा, मैत्री जैसे प्रशस्त भाव मन में रहते हैं।

ज्ञान गरीबी गुरु वचन, नरम वचन निर्दोष।
इनको कभी न छोड़िये, श्रद्धा-शील-संतोष ॥३॥

मूलार्थ—ज्ञान, नम्रता, गुरु-शिक्षा या आज्ञा, नम्रवाणी जो हिंसा, कपट आदि दोषों से रहित, आत्म-विश्वास, सदाचरण तथा संतोष इन गुणों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

टिप्पणी : जीवन को व्यवस्थित, पवित्र एवं आदर्श बनाने के लिए उक्त गुणों का धारण एवं पालन आवश्यक है—वस्तु स्वरूप के

निर्माण के लिए ज्ञान, स्वभाव में नरमाई, गुरुजनों की—बड़ों की आज्ञा का पालन से कार्य सफलता, नम्र वचन से कलह का नाश, आदर-सम्मान-प्रीति की प्राप्ति होती है। ये व्यवहारिक गुण हैं। श्रद्धा से आत्म-विश्वास एवं तत्त्वज्ञान, शील से सदाचरण और संतोष से तृष्णा, लोभ का परिहार तथा आत्म-शांति की प्रतीति होती है। ये आध्यात्मिक गुण हैं।

सांच बाराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।[1]
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदै आप ॥४॥

मूलार्थ— सत्य के समान तप नहीं है, असत्य के समान पाप नहीं है। जिस हृदय में सत्य का वास है उस हृदय में स्वयं का वास होता है।

टिप्पणी: सत्य गुण, धर्म और स्वभाव है, यह प्रिय है प्रत्येक को, इससे अशुभ कर्म का बन्ध नहीं होता, अप्रशस्त का नाश होता है, अतः तप है। असत्य अवगुण, अधर्म तथा विभाव है। यह अप्रिय है, कपट सहित होता है। प्राणी में अविश्वास को उत्पन्न करता है, साधु-पुरुषों द्वारा गर्हित है। असत्य का अर्थ जो नहीं है, उसका विधान करना "है" तथा जो है उसका निषेध करना "नहीं है" एवं यह प्राणी मन का पीड़क होने से पाप है। जिस हृदय में सत्य का वास है, वहां आप— आत्मा एवं परमात्मा का वास है अर्थात् सत्य आत्म-गुण है, अतः वहीं परमात्मा की उपलब्धि है। असत्य में आत्मा आवृत्त रहता है वहां परमात्मा का प्रकट कहां? आगम में सत्य की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—"सत्य ही भगवान् हैं और सत्य की आज्ञा में उपस्थित मेधावी मृत्यु को भी पार कर जाता है।

[1] क प्रति यह पद नहीं है, वहां 'सत मत छोड़ो हे नरा' पद है।

शील धर्म :

सील रतन मोटा रतन, सब रतनन की खान।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आन ॥५॥

मूलार्थ—शील रत्न बहुमूल्य रत्न है, यह अन्य सब रत्नों की खान है। तीन—पाताल, मध्य, ऊर्ध्व लोक की धनराशि इसी शील में आकर रह गई है अर्थात् लोकत्रय सम्पत्ति से भी शील रत्न बहुमूल्य है।

टिप्पणी : शील का अर्थ सदाचार है। शील धर्म और तप माना गया है—क्योंकि मन की वासनाओं का, वाणी की चंचलता एवं शरीर के कुत्सित आचरण को सीमित एवं प्रशस्त रूप रखना तथा सर्वथा उन्हें दूर कर सदाचार का आचरण होता है।*

'रत्न' का अर्थ यहाँ हीरा, माणिक्य आदि पाषाण खण्ड नहीं अपितु उनकी भाँति होने से श्रेष्ठ का वाचक है। अपनी जाति में जो द्रव्य प्रधान हो वह रत्न कहलाता है। जैसे हस्ती रत्न आदि। व्रतों-नियमों में शील श्रेष्ठ है, अतएव शील रत्न कहा जाता है।[२]

शील परिणाम :

सीलै सर्प न आवडै, सीलै सीतल आग।
सीलै अरि करि केहरी, भय जावे सब भाग ॥६॥

मूलार्थ—शील से सांप नहीं आता, शील से अग्नि शीतल पड़ जाती है तथा शीलधर्म से शत्रु, हाथी, सिंह आदि का भय सर्व प्रकार से दूर भाग जाते हैं।

टिप्पणी : जहाँ शील धर्म का वास है वहाँ सर्प भी कुपित नहीं होता, श्रीमति की भाँति, सर्प पुष्पहार बन जाता है, सीता की तरह अग्निकुंड जल सरोवर का रूप ले लेता है तथा

---

[१] आचारः प्रथमो धर्मः। धम्मो चउविहो वुत्तो दाण सील— "तवे सुवा उत्तमं बंभचेरं" [सूत्रकृतांग]

[२] "स्व स्व जातिषु श्रेष्ठं प्रधानं स रत्नम्"

मूलार्थ—जो शरीर, मन तथा वाणी द्वारा किसी को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं देता ऐसे पुरुष के मुख-दर्शन से कर्म-रोग और पाप दूर हो जाते हैं।

टिप्पणी: ऐसा व्यक्ति जो तीन करण—करना, कराना, अनुमोदना, तीन योग-मन, वचन और काया से प्राण हनन नहीं करता वह अहिंसक है, संयमी पुरुष है, उसके दर्शन से अन्यों के दर्शकों के कर्म रूप रोग और पाप दूर होजाते हैं। दर्शन के विषय में—दर्शन पाप का नाशक है, स्वर्ग का सोपान है, मोक्ष का साधन है—कहा गया है।[1]

सुख-दुख चिन्तन :

जीव हिंसा करतां थकां, लागै मिष्ट अज्ञान।
ज्ञानी इम जाणै सही, विष मिलियो पकवान ॥६॥

मूलार्थ—प्राणी-हिंसा करते हुए अज्ञानी व्यक्ति को वह मधुर लगती है। किन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसा ठीक जानता है कि यह (हिंसा) ज़हर मिले हुए पकवान, मिठाई के तुल्य है।

टिप्पणी: ज्ञानी और अज्ञानी के दृष्टि-भेद का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जीव हिंसा भले ही स्वल्प काल के लिए स्वार्थ पूर्ति एवं वासना तृप्ति के लिए साधन वन जाय अर्थात् व्यक्ति उसे जीवन का अंग मान कर बैठा रहे, किन्तु अन्ततः उसका (हिंसा) त्याग करना ही पड़ता है, क्योंकि वह उचित साधन नहीं, वह मृत्यु है, नरक, बन्धन है, पाप है। वह विष मिश्रित मिष्ठान है जो वर्तमान में ही मधुर प्रतीत होता है, भविष्य में नहीं। किन्तु अज्ञानी जीव उसे मधुर मान कर ही बैठा रहता है। उसकी दृष्टि

[1] दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पाप नाशनम्।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनम्॥

वर्त्तमान कालिक है। हिंसा के ही है। पीछे मनोवृत्ति प्रशस्त नहीं प्रमत्त होती है, अतः वह अप्रशस्त ही है।

काम-भोग प्यारे लगें, फल किंपाक समान।
मीठी खाज खुजालतां,[1] पीछै दुख की खान ॥१०॥

मूलार्थ—प्राणी को काम-भोग अच्छे लगते हैं, किन्तु ये किंपाक फल की तरह हैं। शरीर पर रही खुजली को खुजाते हुए तो वह मीठी प्रतीत होती है लेकिन वह बाद में दुख का घर बन जाती है। इसी प्रकार काम और भोग पीछे दुख के कारण हैं।

टिप्पणी : काम और भोग इन्द्रिय-विषय हैं अर्थात् शब्द, रूप, रस और स्पर्श तथा मन की रागात्मिका वृत्ति इन्हें बार २ ग्रहण को प्रेरित करती है, यही मन की अभिलाषा, कामना, राग, आसक्ति आदि है। काम का अर्थ है शब्द और रूप तथा उसकी लालसा, भोग है गंध, रस और स्पर्श का उपभोग। काम आन्तरिक तो भोग प्रत्यक्ष शारीरिक विषय हैं। इनको काम गुण भी कहा गया है, मनोवृत्ति का यही संयोग जीव को कामी बना कर संसार में परिभ्रमण कराता है। आगम में गुण को आवर्त्त—संसार और संसार को गुण का कार्य माना गया है।[2] जब तक काम का हृदय में वास है तब तक संसार है, अन्यथा मुक्ति।

इन काम और भोग के उपभोग की चाह को दो उपमाओं तथा दृष्टांत से उपमित करते हुए उसके परिणाम का ज्ञान कराया है कि ये किंपाक फल—विषफल की भांति रूप, गंध, रस और स्पर्श में सुन्दर हैं, किन्तु खा लेने पर प्राण-संकट उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार काम और भोग के उपभोग का परिणाम अन्ततोगत्वा सुन्दर नहीं होता। आगम में उपभोग सुख को क्षणिक मात्र

---

[1] 'खुजावतां,' क प्रति। [2] जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे। [आचारांग]

तथा इससे होने वाले दुख को दीर्घकालिक माना गया है।[1] भर्तृहरि ने भोग फल रोग बताया है— "भोगे रोगः भयं" दूसरा दृष्टांत खुजली खुजलाने का दिया गया है। जैसे शरीर पर रही खुजली को व्यक्ति खाज आने पर खुजाता है, उस समय वह उसमें तल्लीन होकर मीठे रस का आस्वाद लेता है पर वाद में उस स्थान जलन, रक्त-प्रवाह, वर्म, व्रण आदि होकर पीड़ा का अतिशय रूप भोगना पड़ता है। इसी प्रकार काम और भोग के उपभोग समय में व्यक्ति सुख का आभास करता है, किन्तु वाद में अनुताप आदि के सिवा उसे कुछ नहीं प्राप्त होता।

उक्त काम-भोग के वर्तमान दुख हैं, उपभोगातिरेक से, आसक्ति में व्यक्ति अन्य जीवों की प्राण-हिंसा आदि करता है और तीव्र राग-द्वेष के सद्भाव में भविष्य में दुर्गति आदि का कष्ट भी भोगी को उठाना पड़ता है। इसीलिए कहा गया कि 'भोगी संसार में भ्रमण करता और अभोगी इनमें लिप्त नहीं होता है।

जप तप संजम दोहिलो, औषधि कड़वी जान।
सुख कारण पीछै घणो, निश्चय पद निरवान ॥११॥

मूलार्थ—जप, तप और संयम ये दुष्कर—कठिन हैं, ये कटु रस वाली औषधि (के समान हैं) जानो, ये तीनों वर्तमान में कठिन हैं किन्तु वाद में महासुख के कारण हैं। कटु औषधि सेवन-वेला में कठिन है पर अन्त में रोग का नाश कर आरोग्यता प्रदान करती है, इसी प्रकार जप, तप, संयम से अन्त में निश्चित ही निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

टिप्पणी: प्रथम पद में काम-भोग वर्तमान में सुखद और वाद में दुखदायक होते हैं वताया गया था, प्रस्तुत पद में कर्म-

---

[1] भोगी भमइ संसारे उव भोगी नोवलिप्पइ।   [उत्तराध्ययन]

विनाशक जप-तप और संयम को वर्तमान में आचरण में कड़वी औषधि के समान कटु और दुष्करणीय तथा भविष्य में अत्यन्त अव्याबाध सुख और निर्वाण के प्रदायक माने गये हैं। क्योंकि उक्त साधना में मन एवं इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति न होकर शुभ एवं उसका निरोध भी रहता है, अतः कठिनाई, काय-क्लेश होता है, किन्तु परिणाम भला होता है—पूर्व कृत कर्म का क्षय।

दुख भोग्यां सुख होत है, सुख भोगे तें सोग।
पथ्य करे आरोग्यता, होत पथ्य बिन रोग ॥१२॥

मूलार्थ—दुख, कष्ट उठाने पर ही सुख प्राप्त होता है, सुख के उपभोग से तो शोक पैदा होता है। जैसे कि पथ्य-परहेज शरीर को निरोग, स्वस्थ करता है और विना परहेज के रोग उत्पन्न होता है।

टिप्पणी : व्यक्ति मन तथा शरीर से सुकुमार बनकर मात्र सुख का उपभोगी बनता है तो दुर्बलता के कारण वियोगादि में शोक का अनुभव अधिक मात्रा में करता है तथा इन्द्रिय-निग्रह, कार्यरत-परिश्रम पूर्वक जीवन विताए तो सुख की अनुभूति रहती है, वर्तमान में पदार्थों के अभाव आदि में और अन्त में जन्मान्तर या मोक्ष स्थिति में भी।

सुख-सामग्री के उपभोग को कुपथ्य एवं दुखः स्थिति की पथ्य से तुलना की गई है। अंग्रेजी भाषा में एक मुहावरा है "प्रीवेन्शन इज वैटर दैन क्योर" इलाज से परहेज बेहतर है। यदि परहेज रखा जाय तो बिमारी नहीं आती, यदि रोग है तो परहेज अवश्य रखो औषधि भले ही कम मिले।

डाभी अणी जल बिंदुवा, सुख विषयन को चाव।
भव सागर दुख जल भरयो, यह संसार स्वभाव ॥१३॥

मूलार्थ—शब्दादि-विषय के सुख की चाह, दर्भ-घास की

नोंक—अग्रभाग पर रहे जल-बिन्दु (पानी की बूंद) के समान है तथा (उससे उत्पन्न होने वाला) दु:ख जन्म-मरण जल से भरे समुद्र का सा है, यह संसार का स्वभाव है।

टिप्पणी : विषय से होने वाले सुख का परिमाण बताते हुए दर्भ नोंक का जल कण और दु:ख के लिए जलपूरित समुद्र की उत्प्रेक्षा की है। आगम में मनुष्य जीवन उसकी आयु तथा प्राप्त साधनों की अस्थिरता का उल्लेख उक्त दृष्टांत से संसार का स्वरूप बतलाते हुए अप्रमत्त-जाग्रत रहने का उपदेश दिया है।[1]

सरब सुख वैराग्य में, तेज तपस्या मांहि।
भक्ति में प्रभुता बड़ी, मुक्ति ज्ञान बिन नांहि ॥१४॥

मूलार्थ—सर्व (सारे) सुख वैराग्य में हैं, तपस्या में तेजस्विता है, भक्ति—सेवा, उपसना में गौरव या बड़प्पन है तथा मुक्ति ज्ञान में है अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती।

टिप्पणि—वैराग्य का अर्थ ही है विषय सुख की चाह न रह कर मोक्ष की अभिलाषा होना का उपरति भाव इसलिए उसे सर्व सुख का कारण माना गया है क्योंकि पदार्थ प्रति रात को द्वेष भाव शांत होता है। तप से तेजस्वी होता है प्राणी क्योंकि तपाग्नि से कर्म दूर होने पर आत्मा चमत्कृत हो उठता है। धन अधिकार आदि प्राप्ति से प्रभुत्व नहीं वह मद है अपितु सेवा, भक्ति से गौरव एवं बडप्पन है तथा ज्ञान के विना मुक्ति नहीं। अर्थात ज्ञान के विना वस्तु-स्वरूप से शून्य तथा आचरण विना ज्ञान के नहीं होता[2] अत: ज्ञान अनिवार्य है। आगम में संवेग, तप, वैय्यावृत्य तथा ज्ञान को कर्म क्षय का कारण माना है। संवेग से अनुत्तर धर्म श्रद्धा

---

[1] कुसग्गे जह ओस बिन्दुए······ ···   [उत्त० १०।२]

[2] नाणेण विणा ण हुंति चरण गुणा।" [उत्त०] पढमं नाणं तओ दया
[दश०

कषायों का शमन, मिथ्यात्व का नाश, तपस्या से कर्म निर्जरा, सेवा भक्ति-वहुमान से तीर्थंकर गोत्र का बंधन (भगवद्पद प्राप्ति) तथ ज्ञान से प्राणी सर्व भावों का ज्ञाता होता है, चतुर्गति रूप संसार अटवी में भ्रमण नहीं करता विनाश को प्राप्त नहीं होता ठीक उसं प्रकार जैसे ससूत्र सुई नहीं खो पाती ।[1]

नम्रता-कठोरता :

रज्जब रज ऊँची गई, नरमाई के पान ।[2]
पत्थर ठोकर खात हैं, करड़ाई के तान ॥१५॥

मूलार्थ—रज्जव कवि कहते हैं कि धूलि ऊपर आकाश में जो गई है नरमाई के कारण गई है, पत्थर ठोकरें खाते हैं क्योंकि उनमें कठोरता है ।

नमण भलो नमिवो भलो, नमि देखो सब कोय ।
तोल तराजू देखलो, नमै सो पूरा होय ॥१६॥

मूलार्थ—नमन–प्रणाम करना, नत होना, झुकना और नम्रता होना अच्छा है, सव नत या नम्र होकर देखो ! तराजू तोल कर देखिए जो नमता है—झुकता है, वही पूरा होता है ।

नानक नाना हो रहो, जैसी नानी दूब ।[3]
बड़े घास जल जायेगे, दूब खूब की खूब ॥१७॥

मूलार्थ—भक्त नानक कहते हैं नाना - नाला—छोटा अथवा नम्र होकर रहो, जैसे नहनी दूव होती है, वड़े घास जल जाते हैं, (धूप आदि के कारण) किन्तु दूव वैसी ही रहती है ।

टिप्पणी—उक्त तीनों पदों में कठोरता, अभिमान एवं थोथे ऊँचेपन के परिवार तथा छोटापन, नम्रता एंव नत होने का विधान

---

[1] उत्तराध्ययन २६ अध्ययन । [2] 'पानि, पदान्त में,' ख प्रति
[3] १६—१७ वां पद क प्रति में नहीं है ।

और उनके परिणामों का भी उल्लेख है। आगम में अभिमान को विनय गुण का नाशक बताया है। अभिमान कठोर तो विनय नम्रता गुण वाला है। विनय को धर्म का मूल कहा गया है। विनय के तीन अर्थ हैं—नम्रता, अनुशासन तथा आचार। यहाँ नम्रता, कोमलता तथा अनुशासन से अभिप्राय है। पत्थर की तरह कठोर तथा तराजू के उठे हुए पलड़े की भाँति तथा जड़ रहित लम्बे घास की तरह थोथा बड़प्पन, ये भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों जीवनों के लिए हानिकारक हैं। व्यक्ति के लिए कहा गया है—"न वह कड़वा अधिक बने जिसे अन्य थूक देवें और न इतना मीठा बने कि मुँह में डाल लेवे" अर्थात् उसे उचित स्थिति में ही रहना चाहिए। रजकण, तराजू का नमता हुआ पलड़ा तथा नन्ही दूब घास की तरह नम्र, नमन एवं छोटापन गुण से युक्त रहने से ही दोनों जीवन ठीक रहते हैं।

विनय जिन शासन का मूल, विनय धर्म तथा तप और संयम है विनय के अभाव में तप और संयम का कोई मूल्य नहीं है। नीति में तथा धर्म शास्त्रों में कला, विद्या, शिक्षा, ज्ञान का माध्यम विनय माना गया है। विना इसके उक्त प्राप्त नहीं होते और व्यक्ति उदण्ड, उच्छृँखल, क्रोधी, प्रमादी, लोभी, अहंकारी और अपात्र रहता है।[1] अतएव विनय, नम्रता जीवनधन और धर्म हैं।

विनय, नम्रता का अभिप्राय यहाँ अहंकार निवारण है।

चार कोस ग्रामांतरे, खरची बांधे लार।
परभव निश्चय जावणो, करिये धर्म विचार ॥१८॥

मूलार्थ—यात्री गांव से चार कोस दूर जाता है तो व्यय के लिए

---

[1] "विणओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो ?"
विद्या ददाति विनयं, विनयंद्याति पात्रताम्। [पंचतन्त्र]
"थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे" [दशवैकालिक]

धन साथ लेता है तो इस जीव को (वर्तमान शरीर, स्थान) जन्म छोड़ कर दूसरे भव (शरीर-स्थानादि) में निश्चित जाना है, अतः धर्म का विचार करना चाहिए।

टिप्पणी : यात्री के लिए आवश्यक है कि वह मार्ग में भूख प्यास से पीड़ित न हो उसके लिए पाथेय की व्यस्था करे। सपाथेय-व्यक्ति मार्ग में भूखादि पीड़ित नहीं होता और अपाथेय (सामग्री साधन रहित) वाले को भूखादि से व्याकुल एवं दुखी होना पड़ता है इसी प्रकार जो जीव धर्म का आचरण किए बिना परभव जाता है उसे व्याधि-रोगादि से दुखी होना पड़ता है तथा धर्माचारी अल्प कर्म एवं अल्प वेदना के कारण सुखी रहता है परभव में जाकर भी आगम में ऐसा उल्लेख है।[1]

धर्म का आत्मा के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। धर्म के आचरण से आत्मा पर अशुभ कर्म का आवरण नहीं आता, पुण्य का बंध होता है। धर्म से अशुभ संस्कार, कर्म नष्ट होते हैं तथा आत्मा सुसंस्कृत होता हुआ आत्म-स्वभाव को प्राप्त कर लेता है अन्यथा आगामी जन्म में अशुभ प्रवृत्ति के कारण दु.ख का अधिक संवेदन करना पड़ेगा अतएव धर्माचरण की प्रेरणा है।

बहुत गई[2] थोड़ी रही, अबतो सुरत संभारि।
परभव निश्चय चलिवौ, वृथा जन्म मत हारि ॥१६॥

मूलार्थ—आत्मन्! तेरी देहायु बहुत बीत गई है और थोड़ी सी शेप रही है, अतः अब श्रुति—होश करो, इस जन्म को छोड़कर दूसरे भव—जन्म में अवश्य जाना है, इस जन्म को व्यर्थ मत हारो अर्थात लाभ उठालो।

टिप्पणी : जीवन में समय का बहुत मूल्य है। यह एक बार बीत जाता है, तो पुनः लौट कर नहीं आता। बीते हुए अवसर

---

[1] उत्तराध्ययन सूत्र १९, [2] 'बीती' क प्रति

फिर हाथ लगना कठिन है अतः व्यक्ति को अपनी जीवन-आयु में जो क्षण २ व्यतीत होने पर कम होती है कुछ सद्पुरुषार्थ, आर्य कर्म एवं धर्म कर ही लेना चाहिए। आगम में कहा गया है कि, "जब तक इन्द्रिय-शक्तियां क्षीण नहीं हो जातीं तब तक धर्म का समाचरण कर लेना चाहिए।" जागो उठो! बोध को प्राप्त हो ओ अब क्यों नहीं हो जाते? इस जागरण का पुनर्जन्म में प्राप्त होना दुर्लभ है।"मनुष्य जीवन बार २ प्राप्त होना सुलभ नहीं; बीता समय लौटकर नहीं आता। आत्म-कल्याण आदि की दृष्टि से मनुष्य जन्म का महत्व है, इसे प्राप्त करके भी यदि परमार्थ न साधा गया तो पुनः इस जन्म का मिलना दुर्लभ है। आगम में 'सत्तट्ठ भव गहणे' सात या आठ बार मनुष्य का जन्म प्राप्त होने का उल्लेख है, वह भी उस जन्म-योग्य कर्माचरण के आधार पर। यदि प्राप्त जीवन अन्तिम हो तो किसे क्या मालूम है। इस सम्बन्ध में भगवान महावीर ने देशना दी कि—"तुम महार्णव को तैर कर (मनुष्य जन्म रूप) तीर पर आकर फिर क्यों यहाँ स्थित हो गए हो शीघ्र ही पार हो जाओ! गौतम, इसके लिए क्षण-मात्र भी प्रमाद मत करो।"

उक्त पद में तो कहा है आयु थोड़ी सी रह गई है अब सुरति संभाल लो। ठीक भी है जीवन के अन्त (पिछली आयु) में भी यदि सद् बुद्धि और आचरण आ जाए तो सद्गति का अधिकारी बन सकता है—"पच्छावि ते पयाया खिप्पं गच्छन्ति ते अमर भवणाई।"

---

[1] जाव इन्दिया ण हायंति ताव धम्मं समायरे [दश० ८]
संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥ [सूत्रकृतांग सूत्र]
तिण्णो हु सि अण्णवं महं किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम! मा पमायए॥ [उत्त० १०।३४]

छन्द : दोहा

भव सागर संसार में, दीपा श्री जिनराज ।
उद्यम करि पहुँचै तिरै, बैठि धर्म जहाज ॥१॥

मूलार्थः—इस भव—जन्म-मरण रूप सागर संसार में श्री जिनेश्वर देव द्वीप (के समान) हैं प्राणी धर्म रूप जलयान में बैठ कर पुरुषार्थ द्वारा ही तीर पर पहुंचते हैं (जा सकता है।)

टिप्पणीः—भव-सागर में एक मात्र अरिहंतदेव ही द्वीप के समान हैं जो प्राणी के शांति, सुख एवं विश्राम के स्थान हैं अन्यत्र तो भव—जन्म-मरण के सागर में चारों ओर दुःख का ही जल है। आगम में अरिहंत भगवान् की स्तुति में उन्हें द्वीप-त्राण, शरण गति और प्रतिष्ठा वाले कह कर नमस्कार किया गया है।[1] इस भव-सागर को साधना रूपी पुरुषार्थ द्वारा धर्म-जलपोत में बैठकर तैरा जा सकता है अतएव धर्म-प्रेम को जीवन में स्थान देकर भव-सागर से पार होने का उपक्रम करना चाहिए।

संतन की सेवा कियां, प्रभु रीझत हैं आप।
जाका बाल खिलाइये, तिनका रीझै बाप ॥२॥

मूलार्थः—साधु-जनों की भक्ति, आदर करने से स्वयं भगवान प्रसन्न होते हैं, ठीक उसी प्रकार जिसके बालक को खिलाया जाता है, उसका पिता प्रसन्न होता है।

---

[1] 'दीव-ताण-सरण-गइ-पइट्ठाणं' [आवश्यक सूत्र]

टिप्पणी:—साधु-सेवा का आगम में उल्लेख है। इससे व्यक्ति को विनय धर्म की प्राप्ति होती है, विनय से अनाशातनाशील होता हुआ नरक आदि दुर्गति का उच्छेद कर सुगति—देव-मनुष्य जन्म का बंध करता है तथा सर्व कार्यों का साधक होता है। सेवा—वैय्यावृत्य से व्यक्ति तीर्थंकर पद प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है अर्थात् धर्म-संस्थापक का दर्जा पाने वाला हो जाता है। ऐसे सत्कर्म के आचरण की आज्ञा भगवान ने दी है तथा उसके पालन पर उनका प्रसन्न होना उचित ही है। वैसे तो वे प्रसन्नता-अप्रसन्नता से परे ही हैं।

नदिया उतरै नाव सों, क्या ले करै जिहाज।[1]
जो जाका कारज करै, सो ताका महाराज ॥३॥

मूलार्थ—जहाँ नौका द्वारा नदी उतरी जाती है वहाँ जलयान लेकर क्या कोई करे, जो जिसका कार्य सार—कर देता है वही उसका महाराज हो जाता है अर्थात् उसके लिए वह महान् होता है।

टिप्पणी: बड़े या छोटेपन का जीवन में कोई महत्व नहीं, मूल्य है स्नेह और सहयोग का। बड़े होते हुए यदि समय पर कार्य न साध सके किसी का तो उस बड़प्पन का क्या? उससे तो छोटा ही श्रेष्ठ है जो काम तो आ जाता है।

देखहु प्रीत की रीत भलि, जल पय सरिस विकाय।
कपट खटाई पडत ही, विगल होत रस जाय ॥४॥

मूलार्थ—देखो! प्रेम की रीत कितनी सुन्दर है—दूध और पानी बराबर (मूल्य में) बिकता है। किन्तु छल-रूप खटाई

---

[1] ३ से ७ तक के पद क प्रति में नहीं है। इनके स्थान पर अन्य दोहे हैं जिन्हें अन्त में दिया गया है।

(आम्ल पदार्थ) के पड़ते ही दूध फट कर पानी से अलग हो जाता है।

टिप्पणी:-प्रेम पवित्रता मांगता है और यह है आत्म-गुण ही, व्यक्ति कभी २ इस स्वाभाविक प्रवाहमान धारा को रोक कर उसमें स्वार्थ आदि के कारण कभी कपट का आचरण कर लेता है वहीं प्रेम का विनाश और प्रेम कलंकित हो जाता है। प्रेम हृदय से दूध की भाँति विशाल होता है, वह अपने में जल को स्थान देकर अपने समान वना लेता है, किन्तु खटाई जव आती है उनके बीच में तो वह उन्हें फाड़कर पृथक २ कर देती है।

जैसा चित्त हराम में, ऐसा हरि में होय।
चल्यो जाय सिवधाम कूँ, पला न पकड़े कोय ॥५॥

मूलार्थ–मनुष्य का जैसा मन विषय-विकार या कुबुद्धि में होता है, ऐसा यदि श्री चरणों में हो जाय तो वह स्वर्ग अथवा मोक्ष को चला जाय—सर्व कर्म विमुक्त हो जाय उसका कोई पल्ला नहीं पकड़ता अर्थात् कोई रुकावट नहीं आती।

पोथी पढ़-पढ़ जग मुवा, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम के, पढै सो पंडित होय ॥६॥

मूलार्थ—पुस्तकें या ग्रन्थ पढ़कर संसार के प्राणी कितने ही मर गए पर कोई पण्डित नहीं हुआ, पंडित वही है जिसने 'प्रेम' के अढाई अक्षर पढ़ लिए हैं।

टिप्पणी : मात्र ग्रन्थों के अध्ययन कर लेने से ही पांडित्य प्राप्त नहीं होता वह तो अक्षर ज्ञान है या पदार्थ-संज्ञा की जानकारी है अपितु अर्जित ज्ञान के क्रियात्मक एवं भावात्मक सम्बन्ध में पांडित्य है। पढ़कर हृदय में यदि स्नेह को प्रेम को नहीं संजोया गया तो पढना व्यर्थ सा ही रहा है क्योंकि इसके अभाव में व्यक्ति रूक्ष, स्वार्थपरायण एवं एकाकी वना रहता है। अध्यात्म-दृष्टि

यही बुद्धिमत्ता है अर्थात् वही बुद्धि में प्रवीण है या मत (धर्म-सम्प्रदाय) कुशल है।

टिप्पणी : आत्म-दमन, परात्म-अभयदान या ज्ञान करना और परमात्म-भक्ति ये तीन धर्म क्रिया के सार हैं। आत्म-दमन से विकार-कषायों की उपशान्ति तथा हिंसा आदि दोषों का जीवन में अभाव होता जाता है इसके विपरीत आत्मा स्वच्छन्द, उच्छृंखल, लिप्सी होता है तो ये दोष बढ़ते हैं तथा इनसे स्वयं के साथ पर-आत्माओं का भी अपकार करता है। आगम में अपना दुरात्मा से बढ़कर अन्य किसी को शत्रु नहीं माना गया है वहां कहा गया है कि 'कण्ठ-छेदन करने वाला शत्रु भी इतना अपकार—बुरा नहीं करता जितना अपना दुरात्मा करता है।" इसलिए अपने को दमन करना चाहिए, पर है दमन करना कठिन, आत्मदमी इहलोक-पर-लोक दोनों में सुखी होता है। यदि अपने को स्वयं दमन नहीं करोगे तो अन्य द्वारा वध, बंधन से करवाये जाओगे।

दूसरी बात आत्मीयता की है। बिना इसके स्नेह, परोप-कार आदि कर्म हो नहीं पायेंगे। अहिंसा की आधार भूमि आत्मी-यता ही है। अन्य शरीर-स्थित आत्मा को भली-भाँति अपनी तरह देखना।

परमात्म-भक्ति जीवन को गुणी, बल, साहस के संचय तथा साधना के मार्ग में बने रहने के लिए आश्रय है। यह (परमात्मा) जीवन का आदर्श भी है। परम+आत्मा=श्रेष्ठ आत्मा। जो सर्व दोषों से रहित है—'परमश्चासौ आत्मा परमात्मा।'

ज्ञाता-अज्ञाता :

समझू संके पाप से, अणसमझू हरखंत।
बे लूखा वे चीकणा, इणविध कर्म बधंत ॥२॥

शुभ मानकर करता है इसलिए कर्म बन्ध, पाप अधिक लगता है। समझदार यदि संकल्प पूर्वक करता है (परिस्थिति वश नहीं) तो वह भी अधिक कर्म बन्ध करता है। तात्पर्य यह कि समझदार दोष को जानकर टाल देता है और अज्ञान जीव नहीं। आगम में भी चारित्र की अपेक्षा ज्ञान को प्रथमता दी है और कहा है अज्ञानी श्रेय-प्रेय को क्या जानेगा।[1]

कर्म-प्रपाय :

उपशम विषय कषाय नो, संवर तीनुं योग।
क्रिया जतन विवेक से, मिटे कुकर्म दुख रोग ॥४॥

मूलार्थ—शब्द आदि विषय और क्रोध आदि कषाय को उपशांत करने तथा मन आदि तीनों योगों का संवरण करने एवं प्रत्येक क्रिया को यतना एवं विवेक पूर्वक करने से अशुभ कर्म रूप रोग दूर हो जाता है।

टिप्पणी : कर्म को एक रोग से उपमित किया है। रोग जिस प्रकार चित्त एवं शरीर को चैन नहीं लेने देता इस प्रकार कर्म भी आत्मा को उसका अपना निजानन्द का अनुभव नहीं लेने देता। यहाँ कर्म का अशुभ भेद से ही अभिप्राय है। अशुभ कर्म दुख तथा प्रतिकूल अवस्था का प्रदायक होता है। कर्म मात्र से पृथक् होने की अवस्था से प्रथम अशुभ से शुभावस्था एवं शुद्धावस्था (शुभ-कार्य) निजस्वरूप के लिए साधक होती है किन्तु अशुभ कर्म तो बाधक हैं एतएव इन्हें दूर करने के उपाय का वर्णन है—विषय-कषाय का उपशमन, योग-संवर तथा विवेक और जतना पूर्वक क्रिया।

विषय : शब्द, गन्ध, रूप, रस और स्पर्श, ये पांच इन्द्रियों

---

[1] "पढम नाणं तओ दया एवं चिट्ठई सव्व संजए।" अनाणी किं काही किंवा नाही। [दश० ४]

द्वारा ग्रहण किये जाते हैं अतः इन्द्रिय-विषय या अर्थ हैं। इनमें मन का आसक्त होना, काम और भोग की जो मन में उत्पन्न होने वाली कामना है वह भी विषय कही गई है। मन की इस तीव्र काम-वृत्ति का मन्द या निग्रह करना अशुभ कर्म को दूर एवं रोकने का कारण है। विषय की तीव्रता या इच्छा से अनेकों अनियमित एवं अनैतिक कार्य हो जाते हैं और उनसे कर्म-बंध होते हैं।

कषाय : क्रोध, मान, माया और लोभ इनकी कषाय संज्ञा है। कषाय शब्द दो पदों के मेल से बना है—कष + आय। कष का अर्थ है कालुष्य एवं संसार अर्थात् कलुषित करने वाला या जन्म-मरण को बढाने वाला परिणाम। जिससे आत्मा का कालुष्य एवं संसार की वृद्धि हो उसे कषाय कहते हैं। इसका उपशम करना परमावश्यक है क्योंकि यह आत्मा के अप्रशस्त संक्लिष्ट परिणाम हैं। कषाय वश जीव अकरणीय कार्य कर बैठता है जिससे स्वयं के साथ कुटुम्ब, समाज आदि का अहित हो जाता है, व्यक्ति का जीवन नारकीय हो जाता है। सुख, संतोष, शांति की अनुभूति समाप्त हो जाती है। क्लेश का कारण कषाय ही है।

उपशम : उपशम का अर्थ है शांत करना। विषयेच्छा एवं कषाय को परिस्थिति के उत्पन्न होने पर भी उभरने एवं भड़कने न देना, शांत रखना यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी समय विशेष) तक रहती है। आत्मा अपने करण—शक्ति विशेष से उदय में आने वाली उक्त अवस्थाओं में से किसी को रोक या दबा देता है। इससे आत्मा उस समय नवीन अशुभ कर्म बन्ध से बच जाता है।

योग संवर : मन, वचन और काया के व्यापार-हरकत को योग कहते हैं। वीर्य-अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा के परिस्पन्दन से मन विचार करने में, वचन शब्द उच्चारण में, काया प्रवृत्ति करने में प्रवृत्त होती है वह योग है। यह प्रवृत्ति शुभ-

अशुभ भेद से दो प्रकार की है अतः योग भी शुभयोग-अशुभयोग दो तरह के हो जाते हैं। इनका संवरण करना योग संवर है।

संवर का अर्थ है संवृत होना, करना—ढांपना या रोकना। यह भी दो श्रेणी में विभाजित है —सर्वथा निरोध करना और अशुभ का निरोध करना। योग मात्र का निरोध तो अन्तिम अवस्था (चतुर्दश गुणस्थान) में ही संभव है किन्तु अशुभ योग का निरोध रूप संवर से यहाँ तात्पर्य है। कर्म-उपार्जन का कारण योग और कषाय हैं। अप्रशस्त, मन, वचन और काया की प्रवृत्ति अशुभ योग हैं उनका निरोध योग संवर है।

क्रिया : कर्म का व्यापार, मन, वचन काया की प्रकृति तथा कर्म का कारण क्रिया है।

जतना : यतन या यतना का अर्थ है विचारपूर्वक, सावधानी से जीव-अजीव का ध्यान रखते हुए अर्थात् मन के यत्न सहित कार्य करना।

विवेक : कार्य-अकार्य का विचार विवेक है। कौन सा करणीय है, नहीं है उसके हानि-लाभ का ज्ञान। विवेक वस्तु का प्रकाशक है तो यतना प्रयत्नवती है। इन दोनों के संयोग से कार्य इष्ट फलाभिभूत होता है। आगम में पापकर्म (कुकर्म) के बन्ध न होने के सम्बन्धित प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यतन (यतना) पूर्वक कार्य करता, चलता, खड़ा रहता, बैठा हुआ, शयन करता, बोलता, खाता हुआ पाप कर्म का बन्ध नहीं करता।[१] यह संवरास्था हुई। इससे कर्म-निर्जरा भी होती है यानि कुकर्म रोग १ होता है।

रोग मिटे समता वधे, समकित व्रत आराध।
निरवैरी सब जीव को, पावे मुक्ति समाध ॥५॥

१ कहं चरे ? ५, जयं चरे ५। [दश० ४]

वृहदालोचना–प्रमाण :

इस भव में पहला संख्यात असंख्यात अनंत भवों में भव भ्रमण करते आज दिन ताईं संवत् १९३९ के महाशुदि सप्तमी ताईं। [मुद्रित एवं हस्तलिखित प्रति]

ज्ञान-गुटका प्रशस्ति :

लाला हीरालाल अरु, गूजरमल सुत तास।
ओसवाल सूराणा है, अलवर नगर निवास ॥१॥

तिनके चित हित कारणै, पुर अजमेर मझारि।
पंडित रामचन्द्र ने, शोधि बहुत विचारि ॥२॥

संवत शत उन्नीस अरु, नव त्रिंशति परमान।
मधु कृष्णा तिथ सप्तमी, छपवायो शुभ जान ॥३॥

मुद्रक : अरावली प्रेस, अलवर (राजस्थान)

परिशिष्ट

१. तीस महा मोहनीय स्थान
२. तीन अशुभलेश्या
३. मिथ्यात्व पच्चीस
४. कर्मबन्ध के कारण
५. पाप की ८२ प्रकृतियां

तीस महामोहनीय स्थान

मोहकर्म (आत्मा के स्वरूप को आवृत्त=ढांपने वाला वह कर्म जो मदिरा-पान किए हुये व्यक्ति की भांति विवेकाविवेक से शून्य बनाता है) बन्ध के हेतु भूत तीव्र दुरध्यवसाय एवं क्रूरता-पूर्वक की जाने वाली तीस क्रियाएं महामोहनीय स्थान हैं।

(१) त्रस जीवों को पानी में डूबो कर मारना।

(२) त्रस जीवों को श्वास आदि रोक कर मारना।

(३) त्रस जीवों को किसी मकान आदि बन्द करके धुएं से घोट कर मारना।

(४) त्रस जीवों को उनके सिर पर दण्ड, मुद्गर, खड्ग आदि से घातक प्रहार (चोट) कर मारना।

(५) त्रस जीवों को उनके सिर पर गीला चमड़ा बांध कर मारना।

(६) पथिकों को विश्वासघात कर उन्हें लूटना अथवा शस्त्रादि मारना।

(७) गुप्त रीति से अनाचार सेवन (व्रत खण्डन) करना।

(८) दूसरे पर झूठा कलंक लगाना।

(९) जानबूझ कर सभा आदि में मिश्रि भाषा—सत्य जैसा प्रतीत होने वाला झूठ बोलना।

(१०) राजा के राज्य को ध्वंस करना अथवा उसे भोगोप-भोग पदार्थों से वंचित करना।

(११) बाल ब्रह्मचारी न होने पर भी अपने को बाल ब्रह्मचारी कहना।

(१२) ब्रह्मचारी न होते हुए भी "ब्रह्मचारी हूँ" कहना।

(१३) आश्रयदाता के ही धन का लोभ करना अथवा ;राना।

(१४) उपकारी के उपकार को न मानना या उसके लाभ में विघ्न डालना।

(१५) गृहपति—पालनकर्त्ता, सेनापति, मन्त्री, कलाचार्य व धर्माचार्य की हिंसा करना।

(१६) राष्ट्रनायक और निगम नेता की हत्या करना।

(१७) द्वीप की भांति शरणभूत समाज नेता की हत्या करना।

(१८) सुतपस्वी, संयति तथा संयम ग्रहण करने के लिए उपस्थित दीक्षाभिलाषी को संयम मार्ग से भ्रष्ट करना।

(१९) केवल ज्ञानी—सर्वज्ञ की निन्दा करना।

(२०) न्यायमार्ग—अहिंसादि मोक्ष-मार्ग की निन्दा करना।

(२१) आचार्य तथा उपाध्याय की निन्दा करना।

(२२) आचार्य-उपाध्याय की सेवा न करना।

(२३) अबहुश्रुत होने पर भी अपने को बहुश्रुत कहना।

(२४) अतपस्वी होने पर भी अपने को तपस्वी कहना।

(२५) शक्ति होते हुए भी रोगी, वृद्ध आदि की सेवा न करना।

(२६) हिंसा तथा कामोत्पादक कथाओं का बार २ प्रयोग करना।

(२७) वशीकरण आदि हिंसाजन्य यंत्र-मंत्र का प्रयोग करना।

प्रकृतियां—दान अन्तराय, लाभ अन्तराय, भोग, उपभोग राय, वीर्यान्तराय। एवं ८२ प्रकृतियां हैं।

पौषध के १८ दोष

(१) पौषध के निमित्त ठूंस २ कर सरस आहार करना।

(२) पौषध की पहली रात्रि को मैथुन सेवन करना।

(३) पौषध के लिए नख, केश आदि का संस्कार करना।

(४) पौषध के विचार से वस्त्र धोना।

(५) पौषध के लिए शरीर की शुश्रूषा करना।

(६) पौषध के निमित्त आभूषण पहिनना।

उक्त दोष पौषध करने के पहले दिन सेवन करने से लगते हैं

(८) अव्रती से वैय्यावृत्य (सेवा) करवाना।

(६) शरीर का मैल उतारना।

(६) बिना पूंजे शरीर खुल जाना।

(१०) अकाल में निद्रा लेना, जैसे—दिन में नींद ले पहर रात जाने के पहले सो जाना और पिछली रात में धर्म जागरण न करना।

(११) विना पूंजे परठना।

(१२) निंदा, विकथा, हँसी-मजाक करना।

(१३) सांसारिक बातों की चर्चा करना।

(१४) स्वयं डरना या दूसरों को डराना।

(१५) कलह करना।

(१६) खुले मुँह अयतना से बोलना।

(१७) स्त्री के अंग-उपांग निहारना।

(१८) काका, मामा आदि सांसारिक सम्बन्ध के नाम सम्बोधन करना।

ये बारह बातें पौषध व्रत लेने के बाद की जांय तो दोष हैं अतः अठारह दोषों से सावधान रहना चाहिए। [शि